

Chapter पाँच

भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश

इस अध्याय में *भागवत-धर्म* का वर्णन किया गया है, जो भौतिक संताप से मुक्ति दिलानेवाले धार्मिक आदेशों से भी परे हैं। इसमें यह बताया गया है कि मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के लिए कुकरोँ तथा शूकरोँ की तरह अत्यधिक श्रम नहीं करना चाहिए। यह मनुष्य-जीवन परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्धों को पुनर्जागरित करने के लिए मिला है, जिसके लिए सभी प्रकार की तपस्याएँ की जानी चाहिए। तापसिक कर्म द्वारा हृदय के भौतिक कल्मष को दूर किया जा सकता है और फिर आध्यात्मिक पद प्राप्त किया जा सकता है। इस सिद्धि को पाने के लिए भक्त की शरण लेकर उसकी सेवा करनी पड़ती है। तभी मुक्ति के द्वार खुलेंगे। जो कामिनी तथा इन्द्रियतृप्ति में आसक्त रहते हैं, वे धीरे-धीरे भौतिक चेतना में उलझ जाते हैं और जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखों को भोगते हैं। जो सबों के कल्याण में लगे रहते हैं और सन्तान तथा परिवार में लिप्त नहीं रहते वे *महात्मा* कहलाते हैं। इन्द्रियतृप्ति में लगे हुए, पवित्र या अपवित्र कर्म करने वाले व्यक्ति आत्मा के प्रयोजन को नहीं समझ पाते। अतः उन्हें चाहिए कि वे किसी महान् भक्त के पास जाकर उसको गुरु के रूप में स्वीकार करें। उसकी संगति से जीवन का लक्ष्य समझ में आ जायेगा। ऐसे गुरु के उपदेश से ईश्वर की भक्ति, भौतिक वस्तुओं से विरक्ति तथा भौतिक दुख तथा शोक को सहने की क्षमता प्राप्त की जा सकती है। तब सभी जीवात्माएँ समान दिखेंगी और दिव्य विषयों को जानने के लिए उत्सुकता बढ़ेगी। श्रीकृष्ण को लगातार प्रसन्न

करने का प्रयास करते रहने पर पत्नी, संतान तथा घरबार से वैराग उत्पन्न हो जाता है। तब मनुष्य समय गँवाना नहीं चाहता। इस प्रकार वह स्वरूप-सिद्ध बन जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत ऐसा व्यक्ति किसी दूसरे को भौतिक कार्यों में नहीं लगाता। जो व्यक्ति अपने भक्ति-उपदेश के द्वारा दूसरे व्यक्ति का उद्धार नहीं कर सकता वह गुरु, पिता, माता, देवता या पति होने का भागी नहीं है। ऋषभदेव ने अपने एक सौ पुत्रों को उपदेश देते हुए उन्हें अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को अपना पथ-प्रदर्शक तथा स्वामी स्वीकार करने की सलाह दी। समस्त जीवात्माओं में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं और ब्राह्मणों से वैष्णव श्रेष्ठतर हैं। वैष्णव की सेवा का अर्थ है श्रीभगवान् की सेवा। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी भरत महाराज के चरित्र तथा भगवान् ऋषभदेव द्वारा किये गये याज्ञिक अनुष्ठानों का सामान्य जनता के हित के लिए वर्णन करते हैं।

ऋषभ उवाच

नायं देहो देहभाजां नृलोके

कष्टान्कामानर्हते विद्भुजां ये ।

तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं

शुद्धयेद्यस्माद्ब्रह्मासौख्यं त्वनन्तम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ऋषभः उवाच— भगवान् ऋषभ ने कहा; न—नहीं; अयम्—यह; देहः—शरीर; देह-भाजाम्—समस्त देहधारियों का; नृ-लोके—इस संसार में; कष्टान्—कष्टकारक; कामान्—इन्द्रियतृप्ति, विषय; अर्हते—चाहिए; विद्-भुजाम्—विष्णु खाने वालों का; ये—जो; तपः—तपस्या; दिव्यम्—दिव्य; पुत्रकाः—हे पुत्रो; येन—जिसके द्वारा; सत्त्वम्—हृदय; शुद्धयेत्—पवित्र होता है; यस्मात्—जिससे; ब्रह्म-सौख्यम्—आध्यात्मिक आनन्द; तु—निश्चय ही; अनन्तम्—अनन्त।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से कहा—हे पुत्रो, इस संसार के समस्त देहधारियों में जिसे मनुष्य देह प्राप्त हुई है उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए ही दिन-रात कठिन श्रम नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा तो मल खाने वाले कूकर-सूकर भी कर लेते हैं। मनुष्य को चाहिए कि भक्ति का दिव्य पद प्राप्त करने के लिए वह अपने को तपस्या में लगाये। ऐसा करने से उसका हृदय शुद्ध हो जाता है और जब वह इस पद को प्राप्त कर लेता है, तो उसे शाश्वत जीवन का आनन्द मिलता है, जो भौतिक आनन्द से परे है और अनवरत चलने वाला है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रों को मनुष्य जीवन की महत्ता बताते हैं। देह-भाक् शब्द से “भौतिक देह धारण करने वाले” का बोध होता है, किन्तु जिस जीवात्मा को मनुष्य देह

प्राप्त होती है उसे पशुओं से भिन्न आचरण करना चाहिए। कूकर तथा सूकर मल खाकर इन्द्रियतृप्ति कर लेते हैं। दिन भर अथक परिश्रम करने के बाद मनुष्य रात्रि के समय खा-पीकर संभोग और शयन द्वारा आनंद उठाना चाहते हैं। किन्तु इसके साथ ही उन्हें अपनी रक्षा भी करनी होती है। किन्तु यह कोई मानव सभ्यता नहीं। मनुष्य जीवन का अर्थ है आध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिए स्वेच्छा से कष्ट सहना। निस्सन्देह, पशुओं तथा वृक्षों को भी अपने विगत दुष्कर्मों के कारण कष्ट भोगने पड़ते हैं। किन्तु मनुष्य को दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए तपस्या के रूप में कष्टों को स्वेच्छा से अंगीकार करना चाहिए। दिव्य जीवन प्राप्त करने के अनन्तर उसे शाश्वत आनन्द प्राप्त हो सकता है। मुख्य बात तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा सुखोपभोग चाहता है, किन्तु जब तक वह इस देह में बन्दी है उसे विभिन्न प्रकार के कष्ट झेलने होते हैं। मनुष्य में उच्चतर बुद्धि पायी जाती है। हमें चाहिए कि हम गुरुजनों के उपदेश के अनुसार कार्य करें जिसमें शाश्वत सुख प्राप्त हो और हम भगवान् के धाम लौट सकें।

इस श्लोक में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि सरकार तथा विधिक संरक्षक पिता को चाहिए कि अपने अधीनस्थों को शिक्षित करके कृष्णभावनामृत तक पहुँचाएँ। कृष्णभावनामृत के बिना प्रत्येक जीव जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में सदा के लिए फँसा रहता है। इस बन्धन से छुड़ाने के लिए तथा उन्हें प्रसन्न तथा आनन्दित बनाने के लिए भक्तियोग की शिक्षा दी जानी चाहिए। विमूढ सभ्यता ही अपने नागरिकों को भक्तियोग तक पहुँचाने वाली शिक्षा से वंचित रखती है। कृष्णभक्ति के बिना मनुष्य कूकर-सूकर तुल्य है। ऋषभदेव के उपदेश वर्तमान समय में अत्यन्त अनिवार्य हैं। मनुष्यों को इन्द्रियतृप्ति के लिए घोर श्रम करने की शिक्षा दी जाती है और जीवन में उनका कोई महदुद्देश्य नहीं रहता। मनुष्य जीविकोपार्जन के लिए भोर होते ही अपने घर से निकलता है और ठसाठस भरी हुई लोकल रेलगाड़ी पकड़ता है। उसे अपने कार्यालय तक पहुँचने में एक या दो घंटे तक खड़े रहना पड़ता है। फिर वह बस पकड़के अपने कार्यालय पहुँचता है, कार्यालय में नौ से पाँच बजे तक मेहनत से काम करता है और घर लौटने में उसे फिर से दो-तीन घंटे लग जाते हैं। भोजनोपरान्त संभोग करके निद्रा में लीन हो जाता है। इन समस्त कष्टों का एकमात्र लाभ थोड़ा सा मैथुन-सुख है। *यन् मैथुनादि-गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।* ऋषभदेव स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य जीवन इस प्रकार जीने के लिए नहीं मिला, क्योंकि ऐसा भोग तो कूकर-सूकर भी करते हैं। दरअसल, कूकर-सूकर को मैथुन के लिए इतना श्रम भी नहीं

करना पड़ता। मनुष्य को चाहिए कि वह कूकर-शूकर का अनुकरण न करके भिन्न प्रकार का जीवन जिए। अतः वहाँ इसके विकल्प का उल्लेख किया गया है। मनुष्य जीवन तपस्या के लिए है। तपस्या के द्वारा वह भव-बन्धन से छूट सकता है। कृष्णभावनामृत में रहकर मनुष्य को शाश्वत सुख की गारंटी मिल जाती है। भक्तियोग के द्वारा यह जीवन निर्मल हो जाता है। जन्म-जन्मांतर तक जीवात्मा सुख की खोज करता है, किन्तु इस अकेले भक्तियोग से वह अपनी सभी समस्याओं का हल पा सकता है। फिर वह अविलम्ब भगवद्धाम जाने का भागी हो जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में की गई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्या देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! मेरे जन्म तथा कर्म दिव्य हैं, जो मनुष्य यह जान लेता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।”

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-

स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।

महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता

विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥ २ ॥

शब्दार्थ

महत्-सेवाम्—आध्यात्मिक रूप से उन्नत व्यक्ति जिन्हें महात्मा कहा जाता है, उन की सेवा; द्वारम्—मार्ग; आहुः—कहते हैं; विमुक्तेः—मुक्ति का; तमः-द्वारम्—नारकीय अंधकारमय जीवन का मार्ग; योषिताम्—स्त्रियों की; सङ्गि—साथियों की; सङ्गम्—संगति, साथ; महान्तः—महात्मा; ते—वे; सम-चित्ताः—सब प्राणियों को समभाव से देखने वाले; प्रशान्ताः—अत्यन्त शान्त, ब्रह्म या भगवान् में लीन; विमन्यवः—क्रोधहीन; सुहृदः—प्रत्येक प्राणी के शुभचिन्तक; साधवः—अनिष्ट आचरण वाले योग्य भक्त; ये—जो।

आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत महापुरुषों की सेवा करके ही मनुष्य भव-बन्धन से मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर सकता है। ये महापुरुष निर्विशेषवादी तथा भक्त होते हैं। ईश्वर से तदाकार होने अथवा भगवान् का संग प्राप्त करने के इच्छुक प्रत्येक मनुष्य को महात्माओं की सेवा करनी चाहिए। ऐसे कर्मों में रुचि न रखने वाले लोग, जो स्त्री तथा मैथुन प्रेमी व्यक्तियों की संगति करते हैं उनके लिए नरक का द्वार खुला रहता है। महात्मा समभाव वाले होते हैं। वे एक जीवात्मा तथा दूसरे में कोई अन्तर नहीं देखते। वे अत्यन्त शान्त होते हैं और भक्ति में पूर्णतया लीन रहते हैं। वे क्रोधरहित होते हैं और सभी के कल्याण के लिए कार्य करते हैं। वे कोई निन्द्य आचरण नहीं

करते। ऐसे व्यक्ति महात्मा कहलाते हैं।

तात्पर्य : मानव शरीर चौराहे के समान है। चाहे तो कोई मुक्ति का मार्ग ग्रहण करे या नरक जाने वाले मार्ग का अनुसरण करे। यहाँ यह बताया गया है कि कोई किस प्रकार इस मार्गों को ग्रहण करे। मुक्तिमार्ग में महात्माओं की संगति मिलती है तथा बन्धनमार्ग में इन्द्रियतृप्ति तथा कामासक्त व्यक्तियों का संग प्राप्त होता है। महात्मा दो प्रकार के होते हैं—निर्विशेषवादी तथा भक्त। यद्यपि उनका परम लक्ष्य भिन्न-भिन्न रहता है, किन्तु उद्धार की विधि एक सी है। दोनों ही शाश्वत सुख ही कामना करते हैं। एक निराकार ब्रह्म में सुख खोजता है और दूसरा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की संगति में रहकर। प्रथम श्लोक में ब्रह्म-सौख्यम् शब्द आया है। ब्रह्म का अर्थ शाश्वत है। निर्विशेषवादी तथा भक्त दोनों ही जीवन के शाश्वत आनन्द की खोज करते हैं। प्रत्येक दशा में पूर्ण बनने का उपदेश है। चैतन्यचरितामृत (मध्य २२.८७) के शब्दों में—

असत्-संग-त्याग,—एइ वैष्णव-आचार।

स्त्री-संगी'—एक असाधु, 'कृष्णाभक्त' आर।

प्रकृति के गुणों से विरक्त रहने के लिए असत् अर्थात् भौतिकतावादी लोगों की संगति से बचना चाहिए। दो प्रकार के भौतिकतावादी (असत्) हैं—एक तो स्त्री तथा इन्द्रियतृप्ति में आसक्त हैं, दूसरे मात्र अभक्त हैं। सही दिशा है महात्माओं की संगति और उल्टी दिशा है अभक्तों तथा कामियों (स्त्रीसंगियों) से दूर रहना।

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था

जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।

गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु

न प्रीतियुक्ता यावदर्थान्श्च लोके ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; वा—अथवा; मयि—मुझ; ईशे—भगवान् में; कृत-सौहृद-अर्थाः—प्रेम बढ़ाने के लिए उत्सुक (दास्य, सख्य, वात्सल्य या माथुर्य भाव में); जनेषु—व्यक्तियों में; देहम्भर-वार्तिकेषु—जो शरीर का केवल निर्वाह करना चाहते हैं, जिन्हें मोक्ष की कामना नहीं है; गृहेषु—घर में; जाया—पत्नी; आत्म-ज—बच्चे, सन्तान; राति—धन या मित्र; मत्सु—से युक्त; न—नहीं; प्रीति-युक्ताः—अत्यन्त आसक्त; यावत्-अर्थाः—जितना आवश्यक है उतना ही धन संग्रह करके रहने वाले; च—तथा; लोके—इस भौतिक जगत में।

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था

जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।
 गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
 न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ये—; वा—; मयि—; ईशे—; कृत-सौहृद-अर्थाः—; जनेषु—; देहम्भर-वार्तिकेषु—; गृहेषु—; जाया—; आत्म-ज—; राति—; मत्सु—; न—; प्रीति-युक्ताः—; यावत्-अर्थाः—; च—; लोके—.

ये—जो; वा—अथवा; मयि—मुझ; ईशे—भगवान् में; कृत-सौहृद-अर्थाः—प्रेम बढ़ाने के लिए उत्सुक (दास्य, सख्य, वात्सल्य या माधुर्य भाव में); जनेषु—व्यक्तियों में; देहम्भर-वार्तिकेषु—जो शरीर का केवल निर्वाह करना चाहते हैं, जिन्हें मोक्ष की कामना नहीं है; गृहेषु—घर में; जाया—पत्नी; आत्म-ज—बच्चे, सन्तान; राति—धन या मित्र; मत्सु—से युक्त; न—नहीं; प्रीति-युक्ताः—अत्यन्त आसक्त; यावत्-अर्थाः—जितना आवश्यक है उतना ही धन संग्रह करके रहने वाले; च—तथा; लोके—इस भौतिक जगत में।

जो लोग कृष्णचेतना को पुनरुज्जीवित करने तथा अपना ईश्वर-प्रेम बढ़ाने के इच्छुक हैं, वे ऐसा कुछ नहीं करना चाहते जो श्रीकृष्ण से सम्बन्धित न हो। वे उन लोगों से मेलजोल नहीं बढ़ाते जो अपने शरीर-पालन, भोजन, शयन, मैथुन तथा स्वरक्षा में व्यस्त रहते हैं। वे गृहस्थ होते हुए भी अपने घरबार के प्रति आसक्त नहीं होते। वे पत्नी, सन्तान, मित्र अथवा धन में भी आसक्त नहीं होते, किन्तु उसके साथ ही वे अपने कर्तव्यों के प्रति अन्यमनस्क नहीं रहते। ऐसे पुरुष अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितना धन चाहिए उतना ही संग्रह करते हैं।

तात्पर्य : चाहे निर्विशेषवादी हो या भक्त, यदि वह वास्तव में आत्मतत्त्व में उन्नति करने में रुचि रखता है, तो उसे चाहिए कि उन लोगों से मेल-जोल न रखे जो तथाकथित सभ्यता के विकास द्वारा अपने शरीर-पालन में ही रुचि दिखाते हैं। न ही उसे पत्नी, सन्तान, मित्र इत्यादि के संग गृहस्थ-सुख भोगने के लिए लालायित रहना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ हो और उसे जीविकोपार्जन करना हो, तो निर्वाह के लिए जितने धन की आवश्यकता हो उतना ही संग्रह करना चाहिए। न तो इससे अधिक और न इससे कम। जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है गृहस्थ को चाहिए कि भक्तियोग—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्*—पालन के लिए धन कमाने का यत्न करे। गृहस्थ को चाहिए वह ऐसा जीवन बिताए जिससे कि श्रवण तथा कीर्तन के लिए पूरा-पूरा अवसर मिल सके। उसे चाहिए कि घर पर अर्चाविग्रह की पूजा करे, त्यौहार मनाए, मित्रों को आमंत्रित करे और उन्हें प्रसाद दे। गृहस्थ को इन्हीं कार्यों के लिए धन अर्जित करना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं।

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
 यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।
 न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
 मसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्संदेह; प्रमत्तः—मदान्ध; कुरुते—करता है; विकर्म—शास्त्रों में वर्जित पापकर्म; यत्—जब; इन्द्रिय-प्रीतये—
 इन्द्रियतृप्ति के लिए; आपृणोति—प्रवृत्त होता है; न—नहीं; साधु—अच्छा, उपयुक्त; मन्ये—मानता हूँ; यतः—जिससे;
 आत्मनः—आत्मा का; अयम्—यह; असन्—क्षण-भंगुर; अपि—यद्यपि; क्लेश-दः—कष्टदायक; आस—सम्भव हो सका;
 देहः—शरीर।

जब मनुष्य इन्द्रियतृप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मान बैठता है, तो वह भौतिक रहन-सहन के पीछे प्रमत्त होकर सभी प्रकार के पापकर्मों में प्रवृत्त होता है। वह नहीं जानता कि अपने विगत पापकर्मों के ही कारण उसे यह क्षणभंगुर शरीर प्राप्त हुआ है, जो दुखों की खान है। वास्तव में जीवात्मा को भौतिक देह नहीं मिलनी चाहिए थी, किन्तु इन्द्रियतृप्ति के लिए ऐसा हुआ है। अतः मैं मानता हूँ कि बुद्धिमान प्राणी के लिए यह शोभा नहीं देता कि वह पुनः इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में प्रवृत्त हो, जिससे एक के बाद दूसरा शरीर उसे प्राप्त होता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में इन्द्रियतृप्ति के निमित्त माँगना, उधार लेना तथा चोरी करना निन्दनीय कहा गया है क्योंकि ऐसी भावना से घोर अंधकारमय नरक प्राप्त होता है। व्यभिचार, मांसाहार, मद्यपान तथा द्यूत क्रीड़ा—ये चार प्रकार के पाप-कर्म हैं। ये ऐसे साधन हैं जिनसे दूसरी भौतिक देह धारण करके घोर कष्ट उठाने पड़ते हैं। वेदों का कथन है—*असंगो ह्ययं पुरुषः*। जीवात्मा वास्तव में इस भौतिक संसार से किसी प्रकार जुड़ा हुआ नहीं है, किन्तु इन्द्रिय-सुख उठाने की प्रवृत्ति रखने के कारण उसे ऐसी भौतिक अवस्था में पड़ना होता है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति करके अपने जीवन को पूर्ण बनाये। उसे और आगे भौतिक देह के फेर में नहीं पड़ना चाहिए।

पराभवस्तावदबोधजातो
 यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
 यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
 कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

पराभवः—हार, कष्ट; तावत्—तब तक; अबोध-जातः—अज्ञान से उत्पन्न; यावत्—जब तक; न—नहीं; जिज्ञासते—जिज्ञासा करता है; आत्म-तत्त्वम्—आत्मा विषयक सत्य; यावत्—जब तक; क्रियाः—कर्म; तावत्—तब तक; इदम्—यह; मनः—मन; वै—निस्सन्देह; कर्म-आत्मकम्—कर्मों में व्यस्त; येन—जिसके द्वारा; शरीर-बन्धः—भौतिक शरीर का बन्धन, देह बन्धन।

जब तक जीव को आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा नहीं होती तब तक उसे अज्ञानजन्य कष्ट भोगने पड़ते हैं और उसकी पराजय होती रहती है। कर्म का फल पाप अथवा पुण्य कुछ भी हो सकता है। यदि मनुष्य किसी कर्म में व्यस्त रहता है, तो उसका मन सकाम कर्म में रँगा हुआ कहा जाता है। जब तक मन अशुद्ध रहता है, चेतना अस्पष्ट रहती है और जब तक मनुष्य सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक उसे देह धारण करनी पड़ती है।

तात्पर्य : सामान्य रूप से लोग सोचते हैं कि कष्ट से छुटकारा पाने के लिए पुण्यकार्य करना चाहिए, किन्तु यह सत्य नहीं है। भले ही मनुष्य पवित्र कर्म करे और चिन्तन-मनन करे, तो भी उसकी पराजय होती है। उसका एकमात्र लक्ष्य माया तथा समस्त कर्मों के चंगुल से छुटकारा होना चाहिए। जीवन की समस्याएँ कोरे ज्ञान, चिन्तन तथा पुण्य-कर्म करने से नहीं सुलझतीं। मनुष्य को अपने आध्यात्मिक-पद को समझने के लिए जिज्ञासा होनी चाहिए। *भगवद्गीता* (४.३७) में कहा गया है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

“जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि प्राकृत क्रियाओं के सम्पूर्ण बन्धनों को जला डालती है।”

जब तक मनुष्य आत्मा को तथा इसके कार्यों को नहीं समझ लेता, तब तक वह भौतिक बन्धन में ही माना जायेगा। *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में भी कहा गया है—*येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।* जिस मनुष्य को भक्ति का ज्ञान नहीं होता वह अपने को मुक्त हुआ मान लेता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनाहतयुष्मदंग्रयः*—ऐसे पुरुषों को भले ही निराकार ब्रह्मज्योति प्राप्त हो जाये, किन्तु भक्ति का ज्ञान न होने के कारण उन्हें पुनः भौतिक सुख भोगने के लिए नीचे आना पड़ता है। जब तक मनुष्य कर्म तथा ज्ञान में रुचि दिखाता है, तब तक वह भौतिक जीवन के कष्टों—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि—को सहता रहता है। कर्मियों को निश्चय ही एक के बाद एक देह धारण करनी पड़ती है। जहाँ तक ज्ञानियों का प्रश्न है, जब तक वे ज्ञान की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच जाते उन्हें इस संसार में पुनः पुनः

लौटना पड़ता है। जैसाकि भगवद्गीता (७.१९) में व्याख्या की गई है— बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। मुख्य बात है श्रीकृष्ण वासुदेव को ही सर्वस्व मानना और उन्हीं के प्रति समर्पित होना। कर्मों इसे नहीं जानता, किन्तु ईश्वर की भक्ति में लगा हुआ भक्त सम्यक् रीति से कर्म तथा ज्ञान को जानता है, अतः शुद्ध भक्त कर्म या ज्ञान में तनिक भी रुचि नहीं रखता। अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्मद्विनावृतम्। वास्तविक भक्त को कर्म तथा ज्ञान रंचमात्र भी छू नहीं पाते। उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य ईश्वर की सेवा करना है।

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययात्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मनः—मन; कर्म-वशम्—कर्म के वशीभूत; प्रयुङ्क्ते—कार्य करता है; अविद्यया—अविद्या अथवा अज्ञान से; आत्मनि—जब जीवात्मा; उपधीयमाने—ढका रहता है; प्रीतिः—प्रेम; न—नहीं; यावत्—जब तक; मयि—मुझ; वासुदेवे—वासुदेव अथवा कृष्ण में; न—नहीं; मुच्यते—छुटकारा पाता है; देह-योगेन—देह के सम्पर्क से; तावत्—तब तक।

जब जीवात्मा तमोगुण से आच्छादित रहता है, तो वह न तो आत्मा को और न परम-आत्मा को समझता है और उसका मन सकाम कर्म के वशीभूत रहता है। अतः जब तक उसकी मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती, तब तक उसे देह-बन्धन को स्वीकार करने से छुटकारा नहीं मिल पाता।

तात्पर्य : जब मन सकाम कर्म से दूषित हुआ रहता है, तो जीवात्मा एक स्थिति से दूसरी में उन्नति चाहता है। सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए दिन-रात कठोर कर्म में संलग्न रहता है। वैदिक अनुष्ठानों को जानते हुए भी मनुष्य स्वर्गलोक पहुँचने का इच्छुक रहता है। वह यह भूल जाता है कि उसका वास्तविक हित भगवद्धाम को लौटने में है। सकाम कर्म करता हुआ मनुष्य विभिन्न योनियों में ब्रह्माण्ड भर में घूमता रहता है। किन्तु जब तक वह गुरु के सम्पर्क में नहीं आता वह भगवान् वासुदेव की सेवा में प्रवृत्त नहीं होता। वासुदेव को समझने के लिए कई जन्म लेने पड़ते हैं। जैसाकि भगवद्गीता (७.१९) में पुष्टि हुई है—वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः। अनेक जन्मों तक कष्ट भोगकर वासुदेव के चरणकमल में शरण मिलती है। जब ऐसा हो जाता है, तो

मनुष्य वास्तव में बुद्धिमान बनकर ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है। जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति को रोकने का यही एकमात्र उपाय है। इसकी पुष्टि दशाश्वमेध घाट में श्रील रूप गोस्वामी को श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा दिए गए उपदेश से होती है (चैतन्यचरितामृत, मध्य १९.१५१) —

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

जीवात्मा विभिन्न रूपों तथा देहों में अनेक लोकों में भ्रमण करता रहता है और यदि दैवयोग से वह प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आता है, तो गुरु के अनुग्रह से उसे श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त होती है और उसका भक्तिपूर्ण जीवन प्रारम्भ हो जाता है।

यदा न पश्यत्यथवा गुणेहां

स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।

गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापान्

आसाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; पश्यति—देखता है; अथवा—अनावश्यक; गुण-ईहाम्—इन्द्रियतुष्टि की चेष्टा; स्व-अर्थ—आत्म-हित में; प्रमत्तः—पागल; सहसा—शीघ्र ही; विपश्चित्—ज्ञानी भी; गत-स्मृतिः—स्मृति खोकर; विन्दति—पाता है; तत्र—वहाँ; तापान्—क्लेश; आसाद्य—पाकर; मैथुन्यम्—मैथुन आश्रित; अगारम्—घर; अज्ञः—अज्ञानवश।

भले कोई कितना ही विद्वान तथा चतुर क्यों न हो, यदि वह यह नहीं समझ पाता कि इन्द्रियतृप्ति के लिए की जाने वाली चेष्टाएँ व्यर्थ ही समय की बरबादी है, तो वह पागल है। वह आत्म-हित को भूलकर इस संसार में विषयवासना-प्रधान तथा समस्त भौतिक क्लेशों के आगार अपने घर में आसक्त रहकर प्रसन्न रहना चाहता है। इस प्रकार मनुष्य मूर्ख पशु के ही तुल्य होता है।

तात्पर्य : भक्ति की निम्नतम (अधम) अवस्था में मनुष्य शुद्ध भक्त नहीं होता। अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्—शुद्ध भक्त होने के लिए मनुष्य को समस्त भौतिक कामनाओं से मुक्त होना चाहिए तथा उसे कर्म एवं शुष्क ज्ञान छूना तक नहीं चाहिए। निम्न अवस्था में कभी-कभी दार्शनिक चिन्तन में रुचि हो सकती है, जिस पर भक्ति का रंग चढ़ा हो। किन्तु इस अवस्था में भी मनुष्य इन्द्रियतृप्ति चाहता है और प्रकृति के गुणों से दूषित रहता है। माया का इतना जबरदस्त प्रभाव रहता है

कि ज्ञानी पुरुष भी वास्तव में यह भूल जाता है कि वह श्रीकृष्ण का चिरन्तन दास है। इसलिए वह विषयभोग के चारों ओर केन्द्रित गृहस्थ जीवन में ही आसक्त सन्तुष्ट रहता है। वह विषयी जीवन के समक्ष नत होकर समस्त प्रकार के भौतिक क्लेशों को सहन करता है। अज्ञानवश वह इस प्रकार भौतिक नियमों की साँकल से बँध जाता है।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्
जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पुंसः—पुरुष (नर) का; स्त्रियाः—स्त्री का; मिथुनी-भावम्—कामभोग वासनापूर्ण-जीवन के लिए आकर्षण; एतम्—यह; तयोः—उन दोनों का; मिथः—परस्पर; हृदय-ग्रन्थिम्—हृदयों की गाँठ; आहुः—कहते हैं; अतः—तत्पश्चात्; गृह—घर; क्षेत्र—खेत; सुत—पुत्र; आप्त—सम्बन्धी, स्वजन; वित्तैः—(तथा) धन से; जनस्य—जीवात्मा का; मोहः—मोह; अयम्—यह; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार।

स्त्री तथा पुरुष के मध्य का आकर्षण भौतिक अस्तित्व का मूल नियम है। इस भ्रांत धारणा के कारण स्त्री तथा पुरुष के हृदय परस्पर जुड़े रहते हैं। इसी के फलस्वरूप मनुष्य अपने शरीर, घर, सन्तान, स्वजन तथा धन के प्रति आकृष्ट होता है। इस प्रकार वह जीवन के मोहों को बढ़ाता है और “मैं तथा मेरा” के रूप में सोचता है।

तात्पर्य : स्त्री तथा पुरुष के बीच सहज आकर्षण का प्रमुख कारण विषयभोग है और विवाहित होने पर यह आकर्षण और भी दृढ़ हो जाता है। स्त्री तथा पुरुष के इस ग्रंथिल सम्बन्ध के कारण मोह उत्पन्न होता है, जिससे यह सोचना पड़ता है कि, “अमुक पुरुष मेरा पति है” या “अमुक स्त्री मेरी पत्नी है।” यह हृदय ग्रंथि कहलाती है। इस ग्रंथि को खोल पाना कठिन है भले ही स्त्री तथा पुरुष वर्णाश्रम के नियमों के अनुसार या तलाक देने के कारण विलग क्यों न हो लें। प्रत्येक दशा में स्त्री पुरुष के बारे में और पुरुष स्त्री के बारे में सोचता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति परिवार, धन तथा सन्तान के प्रति भौतिक रूप से आसक्त हो जाता है, भले ही ये सब क्षणिक क्यों न हों। ऐसा व्यक्ति दुर्भाग्यवश अपने आपको अपनी सम्पत्ति और धन से जोड़ लेता और उसे अपनी पहचान बना होता है। कभी-कभी संन्यास लेने के बाद भी कोई-कोई किसी मन्दिर में या अपनी कतिपय वस्तुओं में आसक्त हो जाते हैं, जिन्हें वह अपनी सम्पत्ति समझाने लगता है किन्तु ऐसी आसक्ति गृहस्थी के प्रति आकर्षण के

समान बलवती नहीं होती। परिवार की आसक्ति सबसे प्रबल मोह है। सत्य-संहिता में कहा गया है—

ब्रह्माद्या याज्ञवल्काद्या मुच्यन्ते स्त्री-सहायिनः ।

बोध्यन्ते केचनैतेषां विशेषं च विदो विदुः ॥

कभी कभी यह देखा जाता है कि ब्रह्मा जैसे महापुरुषों के लिए स्त्री तथा पुत्र बन्धन के कारण नहीं बनते। उल्टे, पत्नी आध्यात्मिक जीवन तथा मुक्ति में सहायक बनती है। तो भी अधिकांश व्यक्ति दाम्पत्य भाव की ग्रन्थि से बँधे रहते हैं, फलतः वे कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाते हैं।

यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य

कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत ।

तदा जनः सम्परिवर्ततेऽस्माद्

मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मनः—मन; हृदय-ग्रन्थिः—हृदय की गाँठ; अस्य—इस व्यक्ति का; कर्म-अनुबद्धः—पूर्व कर्मों के फलों से आबद्ध; दृढः—अत्यन्त प्रबल; आश्लथेत—ढीली पड़ती है; तदा—उस समय; जनः—बद्धजीव; सम्परिवर्तते—विमुख हो जाता है; अस्मात्—विषयी जीवन के प्रति आसक्ति से; मुक्तः—मुक्त; परम्—दिव्य लोक को; याति—जाता है; अतिहाय—त्याग कर; हेतुम्—मूल कारण।

जब पूर्व कर्म-फलों के कारण भौतिक जीवन में फँसे हुए व्यक्ति के हृदय की मजबूत गाँठ ढीली पड़ जाती है, तो वह घर, स्त्री तथा सन्तान के प्रति अपनी आसक्ति से विमुख होने लगता है। इस तरह उसका मोह (मैं तथा मेरा) टूट जाता है, वह मुक्त हो जाता है और उसे दिव्य लोक की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : साधुओं की संगति तथा भक्ति से जब मनुष्य धीरे धीरे ज्ञान, अभ्यास तथा अनासक्ति के फलस्वरूप सांसारिक बुद्धि से मुक्त हो जाता है, तो हृदय की आसक्ति-ग्रन्थि ढीली पड़ती है। इस प्रकार वह बद्ध जीवन से मुक्त होकर भगवान् के धाम वापस जाने के लिए पात्र बन जाता है।

हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्त्या

वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।

सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या

जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥ १० ॥

मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं

मद्देवसङ्गाद्गुणकीर्तनाम्ने ।

निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
 जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः ॥ ११ ॥
 अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
 प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्मक् ।
 सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वद्
 असम्प्रमादेन यमेन वाचाम् ॥ १२ ॥
 सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
 ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन ।
 योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
 लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

हंसे—परमहंस अथवा अध्यात्म में उन्नत; गुरौ—गुरु में; मयि—मुझ भगवान् में; भक्त्या—भक्ति के द्वारा; अनुवृत्त्या—पालन करके; वितृष्णया—इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति द्वारा; द्वन्द्व—संसार की द्वैतता का; तितिक्षया—सहिष्णुता से; च—भी; सर्वत्र—सभी जगह; जन्तोः—जीवात्मा का; व्यसन—जीवन की क्लेशमय दशा; अवगत्या—समझ कर; जिज्ञासया—सत्य के सम्बन्ध में पूछताछ द्वारा; तपसा—तपस्या से; ईहा-निवृत्त्या—इन्द्रियतृप्ति के प्रयास को त्यागने से; मत्-कर्मभिः—मेरे लिए कार्य करने से; मत्-कथया—मेरी कथा सुनकर; च—भी; नित्यम्—सदैव; मत्-देव-सङ्गात्—मेरे भक्तों की संगति से; गुण-कीर्तनात् मे—मेरे दिव्य गुणों के कीर्तन तथा महिमागान से; निर्वैर—शत्रुतारहित; साम्य—आत्मज्ञान के कारण सबों को समान देखते हुए; उपशमेन—क्रोध, शोक इत्यादि को जीत कर; पुत्राः—हे पुत्रो; जिहासया—त्याग करने की इच्छा से; देह—देह से साथ; गेह—घर के साथ; आत्म-बुद्धेः—आत्मबोध; अध्यात्म-योगेन—शास्त्रों के अध्ययन से; विविक्त-सेवया—एकान्त वास द्वारा; प्राण—श्वास; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्म—मन; अभिजयेन—नियंत्रण द्वारा; सध्मक्—पूर्णतया; सत्-श्रद्धया—धार्मिक ग्रन्थों में श्रद्धा उत्पन्न करके; ब्रह्मचर्येण—ब्रह्मचर्य पालन द्वारा; शश्वत्—सदैव; असम्प्रमादेन—किंकर्तव्यमूढ़ न होकर; यमेन—संयम से; वाचाम्—शब्दों का; सर्वत्र—सभी जगह; मत्-भाव—मेरा है, यह भाव; विचक्षणेन—अवलोकन द्वारा; ज्ञानेन—ज्ञान बढ़ा कर; विज्ञान—ज्ञान के सम्प्रयोग द्वारा; विराजितेन—प्रकाशित; योगेन—भक्तियोग के अभ्यास से; धृति—धैर्य; उद्यम—उत्साह; सत्त्व—विवेक; युक्तः—युक्त; लिङ्गम्—भौतिक बन्धन का कारण; व्यपोहेत्—त्याग जा सकता है; कुशलः—पूर्ण कुशलता में; अहम्-आख्यम्—झूठा अहंकार, भौतिक संसार के साथ झूठी पहचान।

हे पुत्रो, तुम्हें सिद्ध गुरु अर्थात् परमहंस को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार तुम मुझ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर अपनी श्रद्धा तथा प्रेम रखो। तुम्हें इन्द्रियतृप्ति से घृणा करनी चाहिए तथा ग्रीष्म एवं शीत ऋतु के समान आनन्द तथा पीड़ा की द्वैतता को सहना चाहिए। उन जीवात्माओं की कष्टमय दशा को समझने का प्रयास करो, जो स्वर्ग में भी दुखी रहती हैं। सत्य का दार्शनिक तौर पर अन्वेषण करो। फिर भक्ति के निमित्त समस्त प्रकार की तपस्या करो। इन्द्रिय-सुख के लिए प्रयत्नों का परित्याग करके ईश्वर की सेवा में लगो। भगवान् की कथा का श्रवण करो और सदैव भक्तों की संगति करो। ईश्वर का कीर्तन और गुणगान करो और सबों को आध्यात्मिक स्तर पर समभाव से देखो। शत्रुता त्याग कर क्रोध तथा शोक का दमन करो। स्वयं को देह तथा घर के साथ न जोड़ते हुए शास्त्रों का अध्ययन करो। एकान्त वास करो और प्राणवायु (श्वास), मन तथा इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करने का अभ्यास करो। वैदिक साहित्य अर्थात् शास्त्रों पर पूर्ण

श्रद्धा रखो और सदैव ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो। अपने कर्तव्यों को करते हुए व्यर्थ की बातें करने से बचो। सदैव भगवान् का चिन्तन करते हुए सही स्रोत से ज्ञान प्राप्त करो। इस प्रकार उत्साह एवं धैर्यपूर्वक भक्तियोग का अभ्यास करते रहने से तुम्हारा ज्ञान बढ़ेगा और अहंकार जाता रहेगा।

तात्पर्य : इन चार श्लोकों में ऋषभदेव अपने पुत्रों को बताते हैं कि वे किस प्रकार अहंकार तथा सांसारिक बद्ध जीवन से उत्पन्न झूठी पहचान से मुक्त हो सकते हैं। उपर्युक्त विधि से अभ्यास करने पर धीरे धीरे मुक्त हुआ जा सकता है। इन निर्दिष्ट विधियों से भौतिक शरीर (*लिङ्गं व्यपोहेत्*) का परित्याग करके अपने मूल आत्म-देह में स्थित हुआ जा सकता है। किन्तु सर्वप्रथम कोई प्रामाणिक गुरु बनाना पड़ता है। श्रील रूप गोस्वामी ने अपनी कृति *भक्तिरसामृतसिंधु* में इसकी सम्मति दी है— *श्री-गुरु पादाश्रयः।* भौतिक संसार के बंधनों से मुक्त होने के लिए गुरु के पास जाना होता है। *तद्-विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्।* गुरु से प्रश्न करके तथा सेवा करके आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर हुआ जा सकता है। जब कोई भक्ति में लग जाता है, तो व्यक्तिगत सुविधा—खाने, सोने तथा पहनने—का आकर्षण सहज ही कम होता जाता है। भक्त की संगति करने से आध्यात्मिक स्तर बना रहता है। *मद्-देव सङ्गात्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे अनेक तथाकथित धर्म हैं जिनमें विभिन्न देवताओं की पूजा की जाती है, किन्तु यहाँ *सङ्गात्* का अर्थ ऐसी संगति है, जो श्रीकृष्ण को ही उपास्य अर्चाविग्रह रूप में स्वीकारती है।

द्वंद्व-तितिक्षा शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक प्राणी इस संसार में रहता है, तब तक इस देह से आनन्द तथा कष्ट मिलता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं— *तांस्तितिक्षस्व भारत।* मनुष्य को इस संसार में सुख तथा दुख को सहना सीखना होता है। उसे चाहिए कि वह अपने परिवार से विरक्त होकर ब्रह्मचर्य पालन करे। शास्त्रों के अभिमत के अनुसार अपनी पत्नी के साथ संभोग करना भी ब्रह्मचर्य माना जाता है, किन्तु व्यभिचार वर्जित है, क्योंकि यह धार्मिक नियमों के विपरीत है और इससे आध्यात्मिक चेतना जाती रहती है। *विज्ञानविराजित* भी ऐसा ही महत्त्वपूर्ण शब्द है। प्रत्येक कार्य वैज्ञानिक विधि से तथा विवेकपूर्ण रीति से किया जाना चाहिए। मनुष्य को सिद्ध जीव होना चाहिए। इस प्रकार वह भौतिक बन्धन से छूट सकता है।

जैसाकि श्रीमध्वाचार्य इंगित करते हैं इन चारों श्लोकों का सार-समाहार यह है कि इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा न रखकर कार्य करते हुए ईश्वर की प्रेममय सेवा में सदैव संलग्न रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि मुक्ति का स्वीकृत मार्ग भक्तियोग है। श्रील मध्वाचार्य *अध्यात्म* से उद्धरण देते हैं—

आत्मनोऽविहितं कर्म वर्जयित्वान्यकर्मणः ।

कामस्य च परित्यागो निरीहेत्याहुरुत्तमाः ॥

मनुष्य को चाहिए कि आत्मा के लाभ हेतु ही सारे कार्य करे और अन्य कार्यों का परित्याग कर दे। जब मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त होता है, तो उसे निस्पृह कहते हैं। वास्तव में जीवात्मा कभी भी पूर्णतया निस्पृह नहीं हो सकता, किन्तु जब वह आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के हित का चिन्तन नहीं करता तो निस्पृह कहलाता है।

आध्यात्मिक ज्ञान *ज्ञान-विज्ञान-समन्वितम्* है। ज्ञान तथा विज्ञान से पूर्णतया सज्जित होने पर मनुष्य पूर्ण होता है। ज्ञान का अर्थ है भगवान् विष्णु को ही परम पुरुष समझना। विज्ञान का अर्थ है भौतिक जीवन की अविद्या से छुटकारा दिलाने वाले कार्य। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.९.३१) में कहा गया है—*ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्*। भगवान् का ज्ञान परम गुह्य है और जिस परम ज्ञान से उस भगवान् को कोई समझता है उससे सभी जीवों की मुक्ति को बढ़ावा मिलता है। ऐसा ही ज्ञान विज्ञान है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि (४.९) इस प्रकार हुई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्या देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और मेरे कर्म दिव्य हैं, इस प्रकार जो मनुष्य जान लेता है, वह देह को त्याग कर फिर इस भौतिक जगत में जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।”

कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-

मविद्ययासादितमप्रमत्तः ।

अनेन योगेन यथोपदेशं

सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कर्म-आशयम्—कर्म की आकांक्षा; हृदय-ग्रन्थि—हृदय में स्थित गाँठ; बन्धम्—बन्धन; अविद्या—अविद्या के कारण; आसादितम्—लाई गई; अप्रमत्तः—अत्यन्त सावधान, जो मोहग्रस्त न हो; अनेन—इस; योगेन—योग-अभ्यास से; यथा-उपदेशम्—जैसा उपदेश दिया गया; सम्यक्—पूर्णतया; व्यपोह्य—मुक्त होकर; उपरमेत—विरत होना चाहिए; योगात्—मुक्ति के साधन योगाभ्यास से।

हे पुत्रो, तुम्हें मेरे उपदेश के अनुसार आचरण करना चाहिए। अत्यन्त सावधान रहना। इन विधियों से तुम लोग सकर्म-अभिलाषा की अविद्या से छूट सकोगे और तुम्हारे हृदय में स्थित बन्धनरूपी ग्रंथि पूर्णतया कट जाएगी। तदनन्तर और अधिक उन्नति के लिए तुम्हें साधनों का परित्याग कर देना चाहिए, अर्थात् तुम्हें मुक्ति-क्रिया में ही आसक्त नहीं हो जाना चाहिए।

तात्पर्य : मुक्ति की क्रिया ब्रह्म-जिज्ञासा है। सामान्यतः इसे नेति नेति कहते हैं जिसका अर्थ है, वह क्रिया जिससे परम सत्य की खोज करने के लिए अस्तित्व का विश्लेषण किया जाता है। यह विधि तब तक जारी रहती है जब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन को प्राप्त नहीं होता। यह आध्यात्मिक जीवन ब्रह्मभूत अर्थात् आत्म-अनुभूति की स्थिति है। भगवद्गीता (१८.५४) के शब्दों में—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

“ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और वह पूर्णरूपेण प्रसन्न रहता है। वह न शोक करता है और न किसी वस्तु को पाने की इच्छा ही करता है, वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है।”

इसका उद्देश्य परा भक्ति अर्थात् परमेश्वर की दिव्य सेवा में प्रवेश करना है। इसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य अपने अस्तित्व का विश्लेषण करता है, किन्तु भक्ति में संलग्न रहने पर ज्ञान की खोज करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अविचलित भाव से मात्र भक्ति में संलग्न रहने से मनुष्य सदा मुक्त अवस्था में रहेगा (देखें भगवद्गीता १४.२६)—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

अविचल भाव से भक्ति करना स्वयं ही ब्रह्मभूत है। इसकी दूसरी विशेषता है अनेन योगेन यथोपदेशं—गुरु से प्राप्त उपदेशों का तुरन्त पालन होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु के

उपदेशों से तनिक भी विपथ न हो, न ही उनका उल्लंघन करे। उसे चाहिए कि ग्रन्थों के अवलोकन में ही न लगा रहे वरन् साथ ही साथ गुरु की आज्ञा को कार्य रूप में परिणत करे (*यथोपदेशं*)। भौतिक अनुभूति का परित्याग हो सके इसके लिए योगाभ्यास करना चाहिए, किन्तु यदि मनुष्य भक्ति योग में सलग्न हो जाता है, तो इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। सच बात तो यह है कि योग्याभ्यास को छोड़ा जा सकता है किन्तु भक्ति को नहीं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.७.१०) में कहा गया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

जो *आत्माराम* (मुक्त) हैं उन्हें भी सदैव भक्ति में लगे रहना चाहिए। स्वरूप-सिद्ध होने पर योगाभ्यास छोड़ा जा सकता है, किन्तु भक्ति को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ा जा सकता। योग तथा दार्शनिक चिन्तन समेत आत्म-साक्षात्कार के अन्य कर्म त्यागे जा सकते हैं, किन्तु भक्ति को तो सदैव बनाये रखना चाहिए।

पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा

मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः ।

इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्

न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान् ।

कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत

निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

पुत्रान्—पुत्रों को; च—तथा; शिष्यान्—शिष्यों को; च—तथा; नृपः—राजा; गुरुः—गुरु; वा—अथवा; मत्—लोक-कामः—मेरे धाम के इच्छुक; मत्-अनुग्रह-अर्थः—मेरे अनुग्रह को जीवन लक्ष्य मानने वाले; इत्थम्—इस प्रकार से; विमन्युः—क्रोधरहित; अनुशिष्यात्—शिक्षा देनी चाहिए; अ-तत्-ज्ञान्—आत्मज्ञान से विहीन; न—नहीं; योजयेत्—लगाना चाहिए; कर्मसु—कर्म में; कर्म-मूढान्—केवल पुण्य या पाप कर्म में रत रहने वालों को; कम्—क्या; योजयन्—प्रवृत्त करते हुए; मनु-जः—मनुष्य; अर्थम्—लाभ; लभेत—प्राप्त कर सकता है; निपातयन्—धकेल कर; नष्ट-दृशम्—दिव्य ज्योति से विहीन; हि—निस्संदेह; गर्ते—गड्ढे में।

यदि किसी मनुष्य को घर लौटने अर्थात् ईश्वर के धाम वापस जाने की अभिलाषा हो, तो उसे चाहिए कि वह भगवान् के अनुग्रह को जीवन का परम लक्ष्य माने। यदि वह पिता है, तो अपने पुत्रों को, यदि गुरु है, तो अपने शिष्यों को और यदि राजा है, तो अपनी प्रजा को, इसी प्रकार शिक्षा दे जैसा कि मैंने उपदेश दिया है। उसे चाहिए कि क्रोधरहित होकर इन्हें शिक्षा देते रहें, भले ही शिष्य, पुत्र अथवा प्रजा उनकी आज्ञा का पालन करने में कभी-कभी असमर्थ क्यों

न रहें। कर्म-मूढ़ों को जो पाप एवं पुण्य कर्मों में लगे रहते हैं, चाहिए कि वे सभी प्रकार से भक्ति में लगे। उन्हें सकाम कर्म से सदैव बचना चाहिए। यदि शिष्य, पुत्र या प्रजा, जो दिव्य दृष्टि से रहित हो, उसे कर्म के बन्धन में डाला जाये तो भला वह कैसे लाभान्वित होगा? यह अंधे मनुष्य को अंधेरे कुएं तक ले जाने और उसे गिरने देने जैसा है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (३.२६) में कहा गया है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

“ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि सकाम कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे अर्थात् उन्हें कर्म से विमुक्त न करे; वरन् अपने आचरण से उन्हें भक्तिभाव के साथ कर्म करने में ही लगाये।”

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-

र्योऽर्थान्समीहेत निकायकामः ।

अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो-

रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

लोकः—लोग; स्वयम्—स्वयं; श्रेयसि—कल्याण-मार्ग का; नष्ट-दृष्टिः—जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी है; यः—जो; अर्थान्—विषय-भोग की वस्तुएँ; समीहेत—आकांक्षा करते हैं; निकाय-कामः—इन्द्रियसुख के लिए अनेक कामेच्छाओं वाला, कामी; अन्योन्य-वैरः—परस्पर ईर्ष्यालु होकर; सुख-लेश-हेतोः—केवल क्षणिक सुख के लिए; अनन्त-दुःखम्—अपार कष्ट; च—भी; न—नहीं; वेद—जानते हैं; मूढः—मूढ़ लोग, मूर्ख।

अज्ञानवश भौतिकतावादी व्यक्ति अपना सच्चा हित नहीं समझ पाता जो जीवन का कल्याणकारी मार्ग है। वह भौतिक सुख की कामेच्छाओं से बँधा रहता है और उसकी सारी योजनाएँ इसी एक कार्य के लिए तैयार की जाती हैं। ऐसा व्यक्ति क्षणिक सुख के लिए वैरपूर्ण समाज की सृष्टि करता है और अपनी मानसिकता के कारण वह दुख के सागर में कूद पड़ता है। ऐसे मूर्ख व्यक्ति को इसका ज्ञान भी नहीं होता।

तात्पर्य : नष्टदृष्टिः शब्द का अर्थ है, “जो भविष्य को नहीं देख पाता” और यह शब्द इस श्लोक में अत्यन्त सार्थक है। प्राण तो एक शरीर से दूसरे में चलते रहते हैं और इस जीवन में किये गये कर्मों का अच्छा या बुरा फल इसी जन्म में अन्यथा अगले जन्म में मिलता रहता है। जो अल्पज्ञ है और

भविष्य को नहीं देख सकता वह इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यो से दुश्मनी मोल लेता है और लड़ता-भिड़ता रहता है। इसके फलस्वरूप उसे अगले जीवन में कष्ट उठाना पड़ता है। किन्तु वह अन्धे व्यक्ति की भाँति कार्य करता है, जिससे उसे निरन्तर कष्ट झेलने पड़ते हैं। ऐसा व्यक्ति मूढ़ है, क्योंकि वह मात्र अपना समय गँवाता है और ईश्वर की भक्ति को नहीं समझ पाता। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२५) में कहा गया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

“मैं मूढ़ तथा अल्पज्ञ मनुष्यों के समक्ष कभी प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी योगमाया में छिपा रहता हूँ। इस प्रकार मोहित हुआ संसार मुझ अजन्मे तथा अच्युत को नहीं जान पाता।”

कठोपनिषद् में भी कहा गया है— *अविद्यामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।* अब भी कुछ अज्ञानी लोग दूसरे अन्धे लोगों के पास नेतृत्व प्राप्त करने के लिए जाते हैं, फलस्वरूप इन दोनों को कष्ट उठाना पड़ता है। एक अन्धा दूसरे अन्धे को खड्डे में ले जाने वाला होता है।

कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चिद्

अविद्यायामन्तरे वर्तमानम् ।

दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं

प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

कः—ऐसा कौन व्यक्ति है; तम्—उसको; स्वयम्—स्वयं; तत्-अभिज्ञः—तत्त्व-ज्ञान जानते हुए; विपश्चित्—विद्वान्; अविद्यायाम् अन्तरे—अज्ञानवश; वर्तमानम्—वर्तमान रहते हुए; दृष्ट्वा—देख कर; पुनः—फिर; तम्—उसको; स-घृणः—अत्यन्त दयालु; कु-बुद्धिम्—संसार मार्ग में लिप्त; प्रयोजयेत्—लगायेगा; उत्पथ-गम्—उल्टे मार्ग पर अग्रसर होने वाला; यथा—सदृश; अन्धम्—अंधा पुरुष।

यदि कोई अज्ञानी है और संसार-पथ में लिप्त है, तो भला उसे कोई विद्वान्, दयालु तथा आत्मज्ञानी पुरुष सकाम कर्म करने तथा भौतिक संसार में और अधिक फँसने के लिए क्योंकर प्रवृत्त करेगा? यदि कोई अन्धा व्यक्ति उल्टी राह पर जा रहा हो, तो ऐसा कौन-सा सज्जन पुरुष होगा, जो उसे संकट के पथ पर और आगे जाने देगा? वह इस विधि को क्यों सही मानने लगा? कोई भी बुद्धिमान अथवा दयालु व्यक्ति ऐसा नहीं होने देगा।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
 पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
 दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
 न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

गुरुः—गुरु; न—नहीं; सः—वह; स्यात्—हो; स्व-जनः—कुटुम्बी; न—नहीं; सः—ऐसा व्यक्ति; स्यात्—हो; पिता—पिता; न—नहीं; सः—वह; स्यात्—हो; जननी—माता; न—नहीं; सा—वह; स्यात्—होवे; दैवम्—अर्चाविग्रह; न—नहीं; तत्—वह; स्यात्—हो; न—नहीं; पतिः—पति; च—भी; सः—वह; स्यात्—होय; न—नहीं; मोचयेत्—उबार सकता है; यः—जो; समुपेत-मृत्युम्—बारम्बार जन्म-मृत्यु के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले को ।

“जो अपने आश्रित को बारम्बार के जन्म-मृत्यु के पथ से न उबार सके उसे कभी भी गुरु, पिता, पति, माँ या आराध्य देव नहीं बनना चाहिए।”

तात्पर्य : गुरु कई प्रकार के होते हैं किन्तु ऋषभदेव का उपदेश है कि जो गुरु अपने शिष्य को जन्म-मरण के पथ से उबार सकने में असमर्थ हो उसे गुरु नहीं बनना चाहिए। श्रीकृष्ण का शुद्ध भक्त हुए बिना कोई व्यक्ति बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के पथ से अपने को बचा नहीं पाता। *त्यक्तां देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।* केवल भगवान् के धाम वापस पहुँच कर ही मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट सकता है। लेकिन जब तक मनुष्य सचमुच ही परमेश्वर को नहीं समझता, तब तक वह परम धाम वापस कैसे जा सकता है ? *जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।*

इतिहास में ऋषभदेव के उपदेशों का दृष्टान्त प्रस्तुत करने वाली कई घटनाएँ हैं। बलि महाराज ने शुक्राचार्य का इसलिए परित्याग किया, क्योंकि वे उन्हें जन्म-मरण के मार्ग से बचाने में असमर्थ रहे। शुक्राचार्य शुद्ध भक्त नहीं थे, वे न्यूनधिक सकाम कर्म में प्रवृत्त थे और जब बलि महाराज ने भगवान् विष्णु को अपना सर्वस्व देना चाहा तो शुक्राचार्य ने उन्हें रोका। वास्तव में, मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना सर्वस्व ईश्वर को अर्पित कर दे क्योंकि सब कुछ उन्हीं का है। फलस्वरूप परमेश्वर ने *भगवद्गीता* (९.२७) में उपदेश दिया है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

“हे कुन्तीपुत्र! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है या जो भी दान देता है और तपस्या करता है, वह सब मुझे अर्पित कर।” यह भक्ति है। बिना भक्त बने कोई मनुष्य परमेश्वर को सर्वस्व अर्पित नहीं कर सकता और जब तक वह ऐसा नहीं करता, तब तक वह गुरु, पति,

पिता या माता नहीं बन सकता। इसी प्रकार यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों की पत्नियों ने अपने पतियों को त्याग दिया जिससे वे श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट कर सकें। यह ऐसा उदाहरण है, जिसमें एक पत्नी अपने पति का परित्याग इसलिए करती है, क्योंकि वह जन्म-मरण के आसन्न संकटों से उसे नहीं उबार सकता। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता तथा भरत महाराज ने अपनी माता का परित्याग किया (*जननी न सा स्यात्*)। *दैवम्* शब्द देवता या अपने अधीन की अर्चना स्वीकार करने वाले का द्योतक है। सामान्य रूप से गुरु, पति, पिता, माता या गुरु-परिजन अपने से कनिष्ठ परिजन की आराधना स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु यहाँ पर ऋषभदेव इसके लिए मना करते हैं। पहले तो पिता, गुरु वा पति को इतना सक्षम होना चाहिए कि अपने आश्रित को बारम्बार जन्म तथा मृत्यु से उबार सके। यदि वे ऐसा नहीं कर पाते तो वे अपने अवैधिक कर्मों के कारण भर्त्सना के सागर में डूबते हैं। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपने आश्रित का वैसा ही ध्यान रखे जैसे कि गुरु अपने शिष्य का या कि पिता अपने पुत्र का रखता है। ये सारे उत्तरदायित्व ठीक प्रकार से एकसाथ तब तक नहीं निभाये जा सकते जब तक अपने आश्रित को जन्म-मरण के चक्कर से उबारा न जा सके।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं

सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।

पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्

अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; शरीरम्—दिव्य देह अथवा सच्चिदानन्द विग्रह; मम—मेरा; दुर्विभाव्यम्—अकल्पनीय; सत्त्वम्—भौतिक गुणरहित; हि—निस्संदेह; मे—मेरा; हृदयम्—हृदय; यत्र—जहाँ पर; धर्मः—धर्म का वास्तविक पद अथवा भक्तियोग; पृष्ठे—पीठ पर; कृतः—बनाया हुआ; मे—मेरे द्वारा; यत्—क्योंकि; अधर्मः—अधर्म; आरात्—अत्यन्त दूर; अतः—इसलिए; हि—निस्संदेह; माम्—मुझको; ऋषभम्—जीवों में श्रेष्ठ; प्राहुः—पुकारते हैं; आर्याः—श्रेष्ठ जन, सत्पुरुष।

मेरा दिव्य शरीर (*सच्चिदानन्द विग्रह*) मानव सदृश दिखता है, किन्तु यह भौतिक मनुष्य-शरीर नहीं है। यह अकल्पनीय है। मुझे प्रकृति द्वारा बाध्य होकर किसी विशेष प्रकार का शरीर नहीं धारण करना पड़ता, मैं अपनी इच्छानुकूल शरीर धारण करता हूँ। मेरा हृदय भी दिव्य है और मैं सदैव अपने भक्तों का कल्याण चाहता रहता हूँ। इसलिए मेरे हृदय में भक्ति पूरित है, जो भक्तों के लिए है। मैंने अधर्म को हृदय से बहुत दूर भगा दिया है। मुझे अभक्ति के कार्य बिल्कुल अच्छे नहीं लगते। इन दिव्य गुणों के कारण सामान्य रूप से लोग मेरी उपासना भगवान्

ऋषभदेव के रूप में करते हैं, जो भी जीवात्माओं में श्रेष्ठ है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्* शब्द उल्लेखनीय हैं। सामान्य रूप से हम दो प्रकार की शक्तियों का अनुभव करते हैं—भौतिक शक्ति (माया) तथा आध्यात्मिक शक्ति। हमें भौतिक शक्ति (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि, अहं) का कुछ-कुछ अनुभव है, क्योंकि भौतिक जगत में सबों का शरीर इन्हीं तत्त्वों से बना होता है। भौतिक शरीर के भीतर आत्मा होती है, किन्तु उसे हम भौतिक आँखों से नहीं देख सकते। जब हम आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण शरीर देखते हैं, तो हमारे लिए यह समझ पाना कठिन हो जाता है कि आध्यात्मिक शक्ति को शरीर कैसे प्राप्त हो सकता है। कहा जाता है कि ऋषभदेव का शरीर पूर्णतया दिव्य है, अतः संसारी पुरुष के लिए उसको समझ पाना कठिन है। उसके लिए पूर्णतया आध्यात्मिक शरीर अकल्पनीय है। जब हमें व्यावहारिक बुद्धि से कोई विषय समझ में नहीं आता तो हमें वेदों की दृष्टि ग्रहण करनी चाहिए। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*। परमेश्वर का शरीर स्वरूप युक्त होता है, किन्तु यह भौतिक तत्त्वों का बना हुआ नहीं रहता। यह आध्यात्मिक आनन्द, शाश्वतता तथा चेतना से बना होता है। भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से ईश्वर अपने आदि-दिव्य शरीर में प्रकट हो सकता है, किन्तु ऐसे शरीर का कोई अनुभव न होने से हम कभी कभी मोहग्रस्त हो जाते हैं और ईश्वर के रूप को भौतिक समझ बैठते हैं। मायावादी दार्शनिक ईश्वर की दिव्य देह की कल्पना करने में सर्वथा अक्षम हैं। उनका कथन है कि आत्मा सदैव निराकार है, अतः जब भी वे किसी साकार वस्तु को देखते हैं, तो उसे भौतिक मान बैठते हैं। *भगवद्गीता* (९.११) में कहा गया है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

“जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव तथा मेरे परम साम्राज्य को नहीं जानते।”

अज्ञानी लोग सोचते हैं कि परमेश्वर भौतिक शक्ति से बने शरीर को धारण करते हैं। भौतिक शरीर सरलता से हमारी समझ में आ जाता है, किन्तु आध्यात्मिक शरीर नहीं। अतः ऋषभदेव कहते हैं—*इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्*—वैकुण्ठ जगत में प्रत्येक का शरीर आध्यात्मिक होता है। यहाँ भौतिक अस्तित्व

की कोई संकल्पना नहीं है। वैकुण्ठ जगत में केवल सेवा है और सेवा की प्राप्ति। यहाँ सेव्य, सेवा तथा सेवक ये तीन ही हैं। ये तीनों पूर्णतया आध्यात्मिक हैं अतः वैकुण्ठ जगत परम है। इसमें भौतिक कलुष छू तक नहीं गया। भौतिक संकल्पना से नितान्त परे होने से भगवान् ऋषभदेव कहते हैं कि उनका हृदय धर्म से बना है। भगवद्गीता (१८.६६) में धर्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है— सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। वैकुण्ठ जगत में प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर को समर्पित है और पूर्णतया आध्यात्मिक पद पर आसीन है। यद्यपि सेवक, सेव्य तथा सेवा सभी हैं, किन्तु सभी आध्यात्मिक हैं और चित्र-विचित्र। इस समय हमारी भौतिक कल्पना के कारण प्रत्येक वस्तु अकल्पनीय—दुर्विभाव्य—है। सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ईश्वर ऋषभदेव कहलाते हैं। वैदिक पदावली में कहना चाहें तो कहेंगे—नित्यो नित्यानाम्। हम भी आध्यात्मिक हैं, किन्तु आश्रित हैं। अतः श्रीकृष्ण, जो परमेश्वर हैं आदि व्यक्ति हैं। ऋषभ शब्द का अर्थ है प्रमुख अथवा सर्वश्रेष्ठ और यह परम पुरुष या साक्षात् ईश्वर का सूचक है।

तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः

सर्वे महीयांसममुं सनाभम् ।

अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं

शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः (क्योंकि मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ); भवन्तः—तुम लोग; हृदयेन—मेरे हृदय से; जाताः—उत्पन्न; सर्वे—सभी; महीयांसम्—सर्वश्रेष्ठ; अमुम्—वह; स-नाभम्—भ्राता; अक्लिष्ट-बुद्ध्या—भौतिक कलुषहीन आपकी बुद्धि से; भरतम्—भरत की; भजध्वम्—सेवा करने का यत्न मात्र करो; शुश्रूषणम्—सेवा; तत्—वह; भरणम् प्रजानाम्—नागरिकों (प्रजा) पर शासन।

मेरे प्रिय पुत्रो, तुम सभी मेरे हृदय से उत्पन्न हो जो समस्त दिव्य गुणों का केन्द्र है। अतः तुम्हें संसारी तथा ईर्ष्यालु मनुष्यों के समान नहीं होना है। तुम अपने सबसे बड़े भाई भरत को मानो, क्योंकि वह भक्ति में श्रेष्ठ है। यदि तुम लोग भरत की सेवा करोगे तो उसकी सेवा में मेरी सेवा सम्मिलित होगी और तुम स्वयमेव प्रजा पर शासन करोगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में हृदय शब्द हृदय के अतिरिक्त उरः अर्थात् वक्षस्थल का भी सूचक है। हृदय वक्षःस्थल में स्थित है। यद्यपि पुत्र तांत्रिक रूप से जननांग से उत्पन्न होता है, किन्तु वास्तव में वह हृदय से ही उत्पन्न माना जाता है। हृदय की स्थिति के अनुसार ही वीर्य शरीर का रूप धारण करता है।

अतः जब किसी के पुत्र उत्पन्न होता है, तो वैदिक प्रथा के अनुसार उसके हृदय को गर्भाधान संस्कार द्वारा शुद्ध किया जाना चाहिए। ऋषभदेव का हृदय सदा निष्कलुष एवं आध्यात्मिक था, अतः उनके हृदय से उत्पन्न सभी पुत्र आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। फिर भी ऋषभदेव ने सुझाया कि उनका सबसे ज्येष्ठ पुत्र प्रवर है इसलिए अन्यो को उसकी सेवा करनी चाहिए। भरत महाराज के सभी भाइयों को ऋषभदेव द्वारा भरत की सेवा में संलग्न रहने की सलाह दी गई। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि मनुष्य को परिवार के सदस्यों में क्यों आसक्त होना चाहिए जबकि प्रारम्भ में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को घर तथा परिवार में लिप्त नहीं होना चाहिए? किन्तु साथ ही यह भी उपदेश है— *महीयसां पादरजोऽभिषेक*—मनुष्य को महीयान अर्थात् दिव्य दृष्टि से महान् की सेवा करनी चाहिए। *महत् सेवां द्वारम् आहुर्विमुक्तेः*—महत् अर्थात् महान् भक्त की सेवा करने से मुक्ति का द्वार खुल जाता है। ऋषभदेव का परिवार कोई सामान्य परिवार न था। ऋषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र भरत विशेष रूप से महान् था। इसीलिए अन्य पुत्रों को उनकी सेवा करने का उपदेश दिया गया। यही उनका कर्तव्य था।

परमेश्वर महाराज भरत को इस लोक का प्रमुख शासक बनाने का उपदेश दे रहे थे। यही परमेश्वर की असली योजना थी। कुरुक्षेत्र के युद्ध में श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर को इस लोक का चक्रवर्ती राजा बनाना चाहते थे। वे कभी नहीं चाहते थे कि यह पद दुर्योधन को मिले। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा जा चुका है कि भगवान् ऋषभदेव का हृदय *हृदयं यत्र धर्मः* था। *भगवद्गीता* में धर्म का लक्षण बताया गया है—भगवान् को समर्पण करो। धर्म की रक्षा हेतु (*परित्राणाय साधूनाम्*) ईश्वर सदा अपने भक्त को पृथ्वी का शासक बनाना चाहते हैं। तभी सबों का कल्याण सम्भव है। ज्योंही असुर पृथ्वी का शासन सँभालता है अव्यवस्था फैल जाती है। इस समय यह जगत प्रजातांत्रिक प्रणाली के प्रति उन्मुख है, किन्तु सामान्य लोग रजो तथा तमो गुणों से कलुषित हैं। फलतः वे शासन चलाने के लिए उचित व्यक्ति नहीं चुन सकते। राष्ट्रपति का चुनाव मूर्ख शूद्रों के मतदान से होता है, अतः एक और शूद्र चुन लिया जाता है और फिर सारी सरकार दूषित हो जाती है। यदि जनता *भगवद्गीता* के नियमों का कठोरता से पालन करे तो सदैव ईश्वर का भक्त ही चुना जाएगा। फिर तो स्वतः उत्तम शासन होगा। इसलिए ऋषभदेव ने महाराज भरत को इस लोक का सम्राट बनाए जाने को कहा। भक्त की सेवा का अर्थ है परमेश्वर की सेवा, क्योंकि भक्त सदा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। जब भक्त यह भार लेता है,

तो सरकार सदैव मैत्रीपूर्ण तथा सर्व कल्याणमय होती है ।

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
 सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः ।
 ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
 गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥ २१ ॥
 देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
 दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम् ।
 भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
 स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

भूतेषु—समस्त उत्पन्न जीवों में (चाहे चर हों या अचर); वीरुद्भ्यः—पौधों से; उदुत्तमाः—कहीं अधिक श्रेष्ठ; ये—जो;
 सरीसृपाः—रेंगने वाले प्राणी, यथा सर्प; तेषु—उनमें से; स-बोध-निष्ठाः—वे, जिन्होंने बुद्धि विकसित कर ली है; ततः—उनमें से; मनुष्याः—मनुष्य; प्रमथाः—भूत; ततः अपि—उनसे भी श्रेष्ठ; गन्धर्व—गंधर्वलोक के वासी (देव लोक में गायक के रूप में नियुक्त); सिद्धाः—सिद्ध लोक के वासी, जिनमें योग शक्ति रहती है; विबुध-अनुगाः—किन्नरगण; ये—जो; देव—देवता;
 असुरेभ्यः—असुरों की अपेक्षा; मघवत्-प्रधानाः—इन्द्र आदि; दक्ष-आदयः—दक्ष आदि; ब्रह्म-सुताः—ब्रह्मा के पुत्र; तु—तब;
 तेषाम्—उनमें से; भवः—भगवान् शिव; परः—श्रेष्ठ; सः—वह (शिव); अथ—आगे, और; विरिञ्च-वीर्यः—भगवान् ब्रह्मा से उत्पन्न होने से; सः—वह (ब्रह्मा); मत्-परः—मेरा भक्त; अहम्—मैं; द्विज-देव-देवः—ब्राह्मणों का उपासक अथवा ब्राह्मणों का भगवान्।

दो प्रकार की प्रकट शक्तियों (आत्मा तथा जड़ पदार्थ) में से जीव-शक्ति (वनस्पति, घास, वृक्ष तथा पौधे) जड़ पदार्थ (पत्थर, पृथ्वी इत्यादि) से श्रेष्ठ है। इन अचर पौधों तथा वनस्पतियों की तुलना में रेंगने वाले कीट तथा सरीसृप श्रेष्ठ हैं। कीटों तथा सरीसृपों से पशु श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनमें बुद्धि है। पशुओं से मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों से भूत-प्रेत क्योंकि उनके कोई भौतिक शरीर नहीं होता। भूत-प्रेतों से गंधर्व और गंधर्वों से सिद्ध श्रेष्ठ होते हैं। सिद्धों से किन्नर और किन्नरों से असुर श्रेष्ठ हैं। असुरों से देवता और देवताओं में स्वर्ग का राजा इन्द्र श्रेष्ठ है। इन्द्र से भी श्रेष्ठ ब्रह्मा के पुत्र, जैसे कि राजा दक्ष और ब्रह्मा के इन पुत्रों में भगवान् शिव सर्वश्रेष्ठ हैं। शिव ब्रह्मा के पुत्र हैं इसलिए ब्रह्मा श्रेष्ठ माने जाते हैं किन्तु वे मुझ भगवान् के अधीन हैं। चूँकि मैं ब्राह्मणों को पूज्य मानता हूँ इसलिए ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में ब्राह्मणों का पद ईश्वर से भी बढ़कर बताया गया है। भाव यह है कि शासन का संचालन ब्राह्मणों की देखरेख में होना चाहिए। यद्यपि ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठतम पुत्र भरत को पृथ्वी का राजा बनाने की संस्तुति की तो भी उसे संसार पर अच्छा शासन करने के लिए ब्राह्मणों

की राय लेनी पड़ती थी। ईश्वर की उपासना 'ब्रह्मण्यदेव' के रूप में होती है। ईश्वर ब्राह्मणों अर्थात् भक्तों के अत्यन्त प्रेमी हैं। यहाँ ब्राह्मण, जाति का नहीं, वरन् यह योग्य ब्राह्मण का सूचक है। ब्राह्मण में आठ गुण होने चाहिए जिनका उल्लेख श्लोक २४ में हुआ है। ये हैं साम, दम, सत्य, तितिक्षा इत्यादि। ब्राह्मणों की सदैव पूजा की जानी चाहिए और उन्हीं के निर्देशन में राजा को शासन करना चाहिए। दुर्भाग्यवश इस कलियुग में प्रजातंत्र प्रणाली में न तो कार्यकारी अधिकारी का चुनाव बुद्धिमान लोगों के द्वारा होता है न वह योग्य ब्राह्मणों द्वारा निर्देशित होता है। फलस्वरूप अव्यवस्था उत्पन्न होती है। जन-समूह को कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे भरत महाराज जैसे सर्वोत्कृष्ट भक्त को राज्य का शासक चुन सकें। यदि राज्य का प्रमुख योग्य ब्राह्मण हो तो सब कुछ ठीक रहता है।

इस श्लोक में विकासवाद का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख है। पदार्थ से जीवन के विकास के आधुनिक सिद्धान्त का इससे कुछ हद तक समर्थन होता है, क्योंकि इसमें भूतेषु वीरुद्भ्यः का उल्लेख है अर्थात् जीवों का विकास वनस्पतियों, घास, पौधों तथा वृक्षों से हुआ जो जड़ पदार्थों से श्रेष्ठ हैं। दूसरे शब्दों में, पदार्थ में शक्ति होती है कि वह वनस्पतियों के जीव-रूप में प्रकट हो। इस तरह जीवन पदार्थ से प्रकट होता है और पदार्थ जीवन से। जैसाकि श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता (१०.८) में कहा है—
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते—“मैं समस्त वैकुण्ठ तथा मर्त्यलोकों का कारण हूँ। मुझसे ही प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है।”

शक्तियाँ दो प्रकार की हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक—और ये दोनों मूलतः श्रीकृष्ण से उद्भूत हैं। श्रीकृष्ण परम आत्मा हैं यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भौतिक जगत में जीवित शक्ति (सजीव) पदार्थ से उत्पन्न है, किन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि पदार्थ मूलतः परम व्यक्ति (आत्मा) से उत्पन्न हुआ। नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्। निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक वस्तु, चाहे लौकिक हो या अलौकिक, परमेश्वर से उत्पन्न है। विकासवादी दृष्टि से जीवात्मा पूर्णता को तब प्राप्त करता है जब वह ब्राह्मण पद तक पहुँच जाता है। ब्राह्मण परब्रह्म का उपासक है और परब्रह्म ब्राह्मण की उपासना करता है। दूसरे शब्दों में, भक्त परमेश्वर के अधीन है और ईश्वर अपने भक्त को संतुष्ट रखना चाहता है। ब्राह्मण को द्विजदेव कहा जाता है और ईश्वर द्विज-देव-देव अर्थात् ब्राह्मणों के देवता हैं।

चैतन्यचरितामृत (मध्य, अध्याय १९) में भी विकासवाद की व्याख्या है। उसमें कहा गया है कि

दो प्रकार के जीव हैं—जड़ तथा चेतन। चेतन जीवों में पक्षी, पशु, जलचर, मनुष्य इत्यादि परिगणित हैं। इनमें से मनुष्यों को सर्वोत्कृष्ट माना गया है किन्तु इनकी संख्या अल्प है। इन थोड़े से मनुष्यों में निम्न श्रेणी के मनुष्य कई हैं—यथा म्लेच्छ, पुलिंद, बौद्ध तथा शबर। मनुष्यों में वैदिक नियमों को मानने वाला श्रेष्ठ है। इनमें से वर्णाश्रम धर्म (वैदिक नियम) को मानने वाले कम ही हैं। इनमें से अधिकांश सकाम कर्म करते हैं या उच्च पद प्राप्त करने के लिए पवित्र कर्म करते हैं। *मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये*—अनेक सकाम कर्मियों में से कोई एक ज्ञानी होता है। *यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः*—अनेक ज्ञानियों में से कोई एक भौतिक बन्धन से मुक्त हो पाता है और ऐसे लाखों मुक्त ज्ञानियों में कोई एक कृष्णभक्त होता है।

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्

पश्यामि विप्राः किमतः परं तु ।

यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-

मश्यामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के; तुलये—मैं समान मानता हूँ; भूतम्—जीव; अन्यत्—अन्य; पश्यामि—मैं देखता हूँ; विप्राः—हे समागत ब्राह्मणो; किम्—कुछ भी; अतः—ब्राह्मणों से; परम्—श्रेष्ठ; तु—निश्चय ही; यस्मिन्—जिनमें से; नृभिः—मनुष्यों के द्वारा; प्रहुतम्—यज्ञों के विधिवत् सम्पन्न होने पर दान किया गया भोजन; श्रद्धया—श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक; अहम्—मैं; अश्यामि—खाता हूँ; कामम्—परम प्रसन्नतापूर्वक; न—नहीं; तथा—उस प्रकार; अग्नि-होत्रे—अग्नियज्ञ में।

हे पूज्य ब्राह्मणो, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, इस संसार में ब्राह्मणों के तुल्य या उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। मैं उनके तुलना योग्य किसी को नहीं पाता। वैदिक नियमों के अनुसार यज्ञ करने के पीछे जो मेरा उद्देश्य है, उसे जब लोग समझ लेते हैं, तो वे मेरे निमित्त अर्पित भोग अत्यन्त श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक ब्राह्मण-मुख के द्वारा मुझे प्रदान करते हैं। इस प्रकार प्रदत्त भोजन को मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर ग्रहण करता हूँ। निस्संदेह इस प्रकार से प्रदत्त भोजन को मैं अग्निहोत्र में होम किये भोजन की अपेक्षा अधिक प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता हूँ।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार यज्ञ समाप्ति के पश्चात् ब्राह्मणों को आमंत्रित करके उच्छिष्ट भोजन खिलाया जाता है। जब ब्राह्मण इस भोजन को खाते हैं, तो यह माना जाता है कि परमेश्वर स्वयं इसे ग्रहण कर रहे हैं। अतः योग्य ब्राह्मणों की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। विकास की चरम सिद्धि ब्राह्मण पद पर है। ऐसी सभ्यता जो ब्राह्मण-संस्कृति पर आधारित नहीं है या जिसका मार्गदर्शन

ब्राह्मण नहीं करते वह निश्चय ही निन्दनीय है। आजकल मानवीय सभ्यता इन्द्रियतृप्ति पर आधारित है, अतः अधिक से अधिक लोग विभिन्न वस्तुओं के आदी हो रहे हैं। ब्राह्मण-संस्कृति का आदर कोई भी नहीं करता। दानवी सभ्यता उग्रकर्म के प्रति आसक्त है और अगाध काम-वासनाओं की तृप्ति के लिए बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की जाती है। फलस्वरूप जनता सरकारी करों के कारण पीड़ित रहती है, लोग अधार्मिक हैं और वे *भगवद्गीता* में बताये गये यज्ञों को सम्पन्न नहीं करते। *यज्ञाद् भवति पर्जन्यः*—यज्ञ करने से बादल बनते हैं और पानी बरसता है और प्रचुर वर्षा के कारण प्रभूत अन्न उत्पन्न होता है। यदि राज्य का संचालन ब्राह्मण करें तो समाज भी *भगवद्गीता* के नियमों का पालन करे। तभी लोग सुखी होंगे। *अन्नाद् भवन्ति भूतानि*—जब पशु तथा मनुष्य प्रचुर अन्न खाते हैं, तो वे बलिष्ठ होते हैं और उनके हृदय तथा मस्तिष्क शान्त रहते हैं। तब वे आध्यात्मिक जीवन बिता सकते हैं, जो जीवन का परम लक्ष्य है।

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम् ।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तिक्ष्णानुभवश्च यत्र ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

धृता—दिव्य शिक्षा द्वारा धारण किया गया; तनूः—शरीर; उशती—भौतिक कलुष से मुक्त; मे—मेरा; पुराणी—शाश्वत; येन—जिससे; इह—इस संसार में; सत्त्वम्—सतो गुण; परमम्—परम, सर्वश्रेष्ठ; पवित्रम्—पवित्र; शमः—मन का नियंत्रण; दमः—इन्द्रियों का नियंत्रण; सत्यम्—सत्य; अनुग्रहः—अनुग्रह, कृपा; च—तथा; तपः—तपस्या; तितिक्षा—सहनशीलता; अनुभवः—ईश्वर तथा जीवात्मा का बोध; च—तथा; यत्र—जिसमें।

वेद मेरे शाश्वत दिव्य शब्दावतार हैं, इसलिए वे शब्द-ब्रह्म हैं। इस जगत में ब्राह्मण समस्त वेदों का सम्यक् अध्ययन करते हैं और उनको आत्मसात् कर लेते हैं, इसलिए उन्हें साक्षात् मूर्तरूप वेद माना जाता है। ब्राह्मण सतो गुणी होते हैं फलस्वरूप उनमें शम, दम एवं सत्य के गुण पाये जाते हैं। वे वेदों का मूल अर्थ वर्णन करते हैं और अनुग्रहवश समस्त बद्धजीवों को वेदों के उद्देश्य का उपदेश देते हैं। वे तपस्या तथा तितिक्षा का अभ्यास करते हैं और जीवात्मा तथा परम ईश्वर के पदों का अनुभव करते हैं। ये ही ब्राह्मणों के आठ गुण (सत्त्व, शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तपस्या, तितिक्षा यथा अनुभव) हैं। अतः समस्त जीवों में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं।

तात्पर्य : यह ब्राह्मण का सही वर्णन है। ब्राह्मण वह है, जिसने मन तथा इन्द्रियों को वश में करके

वैदिक निष्कर्षों को आत्मसात् कर लिया हो। वह वेदों का सही-सही कथन करता है। इसी की पुष्टि भगवद्गीता (१५.१५) में हुई है— वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। वेदों के अध्ययन से श्रीकृष्ण की दिव्य स्थिति का पता चलेगा। जो वेदों के सार को आत्मसात् कर ले वही सत्य का उपदेश कर सकता है। भगवान् बद्धजीवों पर सदय हैं, क्योंकि वे कृष्णभक्ति से परिचित न होने के कारण संसार के तीन प्रकार के तापों को भोगते हैं। ब्राह्मण का परमधर्म है कि वह व्यक्तियों पर करुणा करे और उन्हें ऊपर उठाने के लिए कृष्णभक्ति का उपदेश दे। श्रीकृष्ण स्वयं बद्धजीवों को आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों का उपदेश देने के लिए वैकुण्ठ से इस ब्रह्माण्ड में आते हैं। वे उन्हें श्रीकृष्ण में समर्पण के लिए प्रेरित करते हैं। इसी प्रकार से ब्राह्मण भी यही कार्य करते हैं। वैदिक आदेशों को आत्मसात् करके बद्धजीवों को उबारने में वे परमेश्वर के सहायक बनते हैं। अपने उच्च सत्त्व-गुण के कारण ब्राह्मण परमेश्वर को परम प्रिय हैं। वे इस भौतिक जगत में जीव के परोपकार हेतु कार्य करते हैं।

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्

स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।

येषां किमु स्यादितरेण तेषा-

मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

मत्तः—मुझसे; अपि—भी; अनन्तात्—बल तथा ऐश्वर्य में असीम; परतः परस्मात्—सर्वोच्च से ऊँचा; स्वर्ग-अपवर्ग-अधिपतेः—स्वर्ग में प्राप्य सुख को मुक्ति द्वारा अथवा भौतिक सुखोपभोग द्वारा और फिर मुक्ति द्वारा प्रदान करने में समर्थ; न—नहीं; किञ्चित्—कुछ भी; येषाम्—जिसका; किम्—क्या प्रयोजन; उ—ओह; स्यात्—क्या हो सकता है; इतरेण—जिन्हें किसी वस्तु की अन्य किसी से; तेषाम्—उनका; अकिञ्चनानाम्—आवश्यकता नहीं है अथवा जिन्हें सम्पत्ति की इच्छा नहीं; मयि—मुझमें; भक्ति-भाजाम्—भक्ति करने वाले।

मैं ब्रह्मा तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र से भी अधिक ऐश्वर्यवान्, सर्वशक्तिमान तथा श्रेष्ठ हूँ। मैं स्वर्गलोक में प्राप्त होने वाले समस्त सुखों को तथा मोक्ष को देने वाला हूँ। तो भी ब्राह्मण मुझसे भौतिक सुख की कामना नहीं करते। वे अत्यन्त पवित्र तथा निस्पृह हैं। वे एकमात्र मेरी भक्ति में लगे रहते हैं। भला उन्हें अन्य किसी से भौतिक लाभों के लिए याचना करने की क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य : यहाँ पर ब्राह्मण की सम्पूर्ण योग्यता का उल्लेख है—अकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम्। ब्राह्मण सदैव ईश्वर की भक्ति में लगे रहते हैं, फलतः न उन्हें भौतिक वस्तुओं की चाह होती है, न ही

उनके पास सम्पत्ति होती है। *चैतन्यचरितामृत* (मध्य ११.८) में चैतन्य महाप्रभु ने उन शुद्ध वैष्णवों की स्थिति की व्याख्या की है, जो भगवान् के धाम वापस जाने के इच्छुक रहते हैं— *निष्किञ्चनस्य भगवद्-भजनोन्मुखस्य*। जो भगवान् के धाम वास्तव में वापस जाना चाहते हैं, वे निष्किञ्चन हैं—अर्थात् भौतिक सुख की उन्हें कामना नहीं रहती। श्री चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है— *सन्दर्शनं विषयिणाम् अथ योषितां च हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु*—ऐश्वर्य तथा स्त्री-संसर्ग द्वारा इन्द्रियतृप्ति विष से भी अधिक घातक हैं। ब्राह्मण शुद्ध वैष्णव होने के कारण सदैव ईश्वर की सेवा में लगे रहते हैं और भौतिक लाभ की उनमें रंच भी इच्छा नहीं रहती। भौतिक सुख-प्राप्ति के लिए वे ब्रह्मा, इन्द्र या शिव जैसे देवताओं की पूजा नहीं करते। यहाँ तक कि परमेश्वर से भी वे भौतिक लाभ के लिए याचना नहीं करते, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि इस संसार में ब्राह्मण श्रेष्ठ जीव हैं। *श्रीमद्भागवत* (३.२९.३३) में श्रीकपिलदेव भी इसकी पुष्टि करते हैं—

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।

मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः ।

न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥

ब्राह्मण मनसा वाचा कर्मणा ईश्वर की सेवा में समर्पित रहने वाले हैं। ब्राह्मण से बढ़कर ऐसा अन्य कोई नहीं है, जो अपने आप को ईश्वर में लगाता है और समर्पित हो जाता है।

सर्वाणि मद्धिष्यतया भवद्भि-

श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।

सम्भावितव्यानि पदे पदे वो

विविक्तदृग्भिस्तदु हार्हणं मे ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सर्वाणि—समस्त; मत्-धिष्यतया—मेरा आसन होने के कारण; भवद्भिः—तुम्हारे द्वारा; चराणि—चर; भूतानि—जीवात्माएँ; सुताः—हे पुत्रो; ध्रुवाणि—अचर; सम्भावितव्यानि—आदरणीय; पदे पदे—पग पग पर, प्रतिक्षण; वः—तुम लोगों के द्वारा; विविक्त-दृग्भिः—स्पष्ट दृष्टि तथा ज्ञान से युक्त (परमात्मा रूप में भगवान् सर्वव्यापी हैं); तत् उ—अप्रत्यक्षतः जो; ह—निश्चय ही; अर्हणम्—आदर देते हुए; मे—मुझे।

हे पुत्रो, तुम्हें चराचर किसी जीवात्मा से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। यह जानते हुए कि मैं उनमें स्थित हूँ, प्रत्येक क्षण उनका समादर करना चाहिए। इस प्रकार तुम मेरा आदर करो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विविक्त-दृग्भिः* अर्थात् ईर्ष्यारहित शब्द का प्रयोग हुआ है। सभी

जीवात्माओं में भगवान् का वास परमात्मा रूप में होता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—
अण्डान्तरस्थं परमाणुचयान्तरस्थम्। इस ब्रह्माण्ड में भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में स्थित हैं। वे प्रत्येक परमाणु में व्याप्त हैं। वेदों का कथन है— *ईशावास्यमिदं सर्वम्।* परमेश्वर सर्वत्र स्थित हैं और जहाँ कहीं भी वे स्थित हैं वह उनका मन्दिर है। हम दूर से भी मन्दिर को प्रणाम करते हैं। इसी प्रकार से समस्त जीवों को प्रणाम किया जाना चाहिए। यह उस विश्वदेवतावाद के सिद्धान्त से भिन्न है, जो प्रत्येक वस्तु को ईश्वर मानता है। ईश्वर से प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध है क्योंकि वे सर्वव्यापक हैं। हमें दरिद्र-नारायण के मूर्ख उपासकों की भाँति ऊँच-नीच में भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। नारायण तो धनी तथा निर्धन दोनों में विद्यमान हैं। किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि नारायण केवल दरिद्रों (निर्धनों) में वास करते हैं। वे सर्वत्र हैं। परम भक्त प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह कुत्ता या बिल्ली ही क्यों न हो, सम्मान प्रदान करता है। *भगवद्गीता* (५.१८) में कथन है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥

“यथार्थ से विनीत साधु विद्या तथा विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल (कुत्ता-भक्षक) को समान दृष्टि से देखता है।” इस *सम-दर्शिनः* शब्द से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जीव तथा ईश्वर एक समान हैं। वे सदैव पृथक्-पृथक् हैं। प्रत्येक मनुष्य परमेश्वर से भिन्न है। अतः *विविक्त दृक्, सम-दृक्* के आधार पर दोनों को एक समान समझना भूल होगी। भगवान् भले ही सर्वत्र रहना स्वीकार करें, किन्तु उनका पद बड़ा है। श्रील मध्वाचार्य *पद्म-पुराण* से उद्धरण देते हुए कहते हैं—
विविक्त-दृष्टि-जीवानां धिष्यतया परमेश्वरस्य भेद-दृष्टिः—“जिसकी दृष्टि विमल है और जो ईष्यारहित है उसे ईश्वर प्रत्येक जीवात्मा में स्थित रह कर भी समस्त जीवात्माओं से पृथक् दिखता है।” वे *पद्म पुराण* से और आगे भी से उद्धरण देते हैं—

उपपादयेत परात्मानं जीवेभ्यो यः पदे पदे।

भेदेनैव न चैतस्मात् प्रियो विष्णोस्तु कश्चन ॥

“जो जीवात्मा तथा परमेश्वर को पृथक्-पृथक् देखता है, वह उसे परम प्रिय होता है।” *पद्मपुराण* में ही कहा गया है— *यो हरेश्चैव जीवानां भेदवक्ता हरेः प्रियः—*“जो यह उपदेश देता है कि जीवात्मा

परमेश्वर से पृथक् है, वह भगवान् विष्णु को परम प्रिय होता है ।”

मनोवचोदृक्करणोहितस्य

साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि ।

विना पुमान्येन महाविमोहात्

कृतान्तपाशात् विमोक्तुमीशेत् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; वचः—शब्द; दृक्—दृष्टि; करण—इन्द्रियों का; ईहितस्य—समस्त कर्मों (शरीर, समाज, मैत्री इत्यादि बनाये रखने के लिए) का; साक्षात्-कृतम्—प्रत्यक्षतः प्रदत्त; मे—मुझको; परिबर्हणम्—पूजा; हि—क्योंकि; विना—बिना; पुमान्—कोई व्यक्ति; येन—जो; महा-विमोहात्—परम मोह से; कृतान्त-पाशात्—यमराज के पाश से; न—नहीं; विमोक्तुम्—मुक्त होने के लिए; ईशेत्—समर्थ होता है।

मन, दृष्टि, वचन तथा समस्त ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय इन्द्रियों का वास्तविक कार्य मेरी सेवा में लगे रहना है। जब तक जीवात्मा की इन्द्रियाँ इस प्रकार सेवारत नहीं रहतीं, तब तक जीवात्मा को यमराज के पाश सदृश सांसारिक बन्धन से निकल पाना दुष्कर है।

तात्पर्य : नारद-पंचरात्र में कहा गया है—

सर्वोपाधिदविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

भक्ति का यही सार है। भगवान् ऋषभदेव लगातार भक्ति पर बल दे रहे थे और अब अन्त में यह कहते हैं कि इन्द्रियों को ईश्वर की सेवा में प्रवृत्त करना चाहिए। पाँच इन्द्रियों से हम ज्ञान अर्जित करते हैं और इतनी ही इन्द्रियों से कार्य करते हैं। ये दस इन्द्रियों तथा मन को पूर्णतया भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। ऐसा किये बिना माया के चंगुल से छुटकारा नहीं हो सकता।

श्रीशुक उवाच

एवमनुशास्यात्मजान्स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश
उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः
स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन
एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो
ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; अनुशास्य—उपदेश दे चुकने पर; आत्म-जान्—अपने पुत्रों को; स्वयम्—स्वयं; अनुशिष्टान्—सुशिक्षित; अपि—यद्यपि; लोक-अनुशासन-अर्थम्—लोगों को शिक्षा देने के लिए; महा-अनुभावः—महान् पुरुष; परम-सुहृत्—हर एक का शुभ चिन्तक; भगवान्—भगवान्; ऋषभ-अपदेशः—जो ऋषभदेव के

नाम से विख्यात हैं; उपशम-शीलानाम्—निस्पृह व्यक्तियों का; उपरत-कर्मणाम्—सकाम कर्मों से विरक्त; महा-मुनीनाम्—संन्यासी; भक्ति—भक्ति; ज्ञान—पूर्ण ज्ञान; वैराग्य—विरक्ति; लक्षणम्—लक्षण; पारमहंस्य—श्रेष्ठ मनुष्यों का; धर्मम्—कर्तव्य; उपशिक्षमाणः—उपदेश देते हुए; स्व-तनय—अपने पुत्रों का; शत—सौ; ज्येष्ठम्—ज्येष्ठ; परम-भागवतम्—ईश्वर का परम भक्त; भगवत्-जन-परायणम्—ईश्वर के भक्तों (ब्राह्मणों तथा वैष्णवों) का अनुगमन करने वाला; भरतम्—भरत महाराज को; धरणि-पालनाय—संसार पर राज्य करने की दृष्टि से; अभिषिच्य—अभिषेक करके, सिंहासन पर बैठाकर; स्वयम्—स्वयं; भवने—घर पर; एव—यद्यपि; उर्वरित—रहते हुए; शरीर-मात्र—केवल शरीर; परिग्रहः—स्वीकार करते हुए; उन्मत्तः—पागल; इव—सदृश; गगन-परिधानः—आकाश को अपना वस्त्र बनाते हुए, दिगम्बर; प्रकीर्ण-केशः—बिखरे वालों वाला; आत्मनि—अपने में; आरोपित—आरोप करके; आहवनीयः—वैदिक अग्नि, अग्निहोत्र; ब्रह्मावर्तात्—ब्रह्मावर्त देश से; प्रवव्राज—सम्पूर्ण संसार में घूमने लगे।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार सबके हितैषी परमेश्वर ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया। यह आदर्श प्रस्तुत करने के लिए कि गृहस्थ जीवन से विरक्त होने के पूर्व पिता अपने पुत्रों को किस प्रकार शिक्षा दे, उन्होंने उन्हें शिक्षा दी, यद्यपि वे सभी पूर्णतया शिक्षित तथा शिष्ट थे। इन उपदेशों से सकाम कर्मों से न बँधने वाले तथा अपनी भौतिक कामनाओं को नष्ट करने के बाद भक्ति में लीन रहने वाले संन्यासी भी लाभ उठाते हैं। ऋषभदेव ने अपने एक सौ पुत्रों को शिक्षा दी जिनमें से सबसे बड़ा भरत था, जो परम भक्त तथा वैष्णवों का अनुयायी था। भगवान् ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को सिंहासन पर इसलिए बिठाया कि वह सारे संसार पर शासन करे। इसके पश्चात् घर में रहते हुए भी भगवान् ऋषभदेव पागल के सदृश नंगे तथा बाल बिखरे रहने लगे। तब यज्ञ-अग्नि को अपने में लीन करके विश्व का भ्रमण करने के लिए उन्होंने ब्रह्मावर्त को छोड़ दिया।

तात्पर्य : भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को जो उपदेश दिये वे वास्तव में उनके लिए न थे, क्योंकि वे पहले से ही शिक्षित तथा उच्चतम ज्ञानी थे। वास्तव में ये उपदेश उन संन्यासियों के लिए हैं, जो महान् भक्त बनना चाहते हैं। भक्ति पथ पर अग्रसर होने वाले संन्यासियों को चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करें। अपने परिवार में रहते हुए भी उन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दिया था और एक नग्न पागल की भाँति रहते थे।

जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव ॥

२९ ॥

शब्दार्थ

जड—अचर, स्थिर; अन्ध—अंधा; मूक—गूँगा; बधिर—बहरा; पिशाच—भूत; उन्मादक—पागल; वत्—सदृश; अवधूत-वेषः—अवधूत के समान रहते हुए (संसार से विमुख); अभिभाष्यमाणः—इस प्रकार (बहरा, गूँगा तथा अंधा) संबोधित

होकर; अपि—यद्यपि; जनानाम्—लोगों द्वारा; गृहीत—ग्रहण कर लिया; मौन—न बोलने का; व्रतः—व्रत, संकल्प; तूष्णीम् बभूव—चुप रहने लगा।

अवधूत रूप धारण करके भगवान् ऋषभदेव अंधे, बहरे तथा गूंगे, जड़, भूत अथवा पागल के समान मनुष्य-समाज में घूमने लगे। यद्यपि लोग उन्हें इन नामों से पुकारते, किन्तु वे मूक बने रहते और किसी से कुछ नहीं बोलते थे।

तात्पर्य : अवधूत से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है, जो सामाजिक नियमों, विशेष रूप से वर्णाश्रम धर्म की परवाह नहीं करता। किन्तु ऐसा व्यक्ति अपने आप में लीन रह कर भगवान् का चिन्तन करता हुआ भगवान् से परम प्रसन्न रहता है। दूसरे शब्दों में जिसने वर्णाश्रम धर्म के नियमों का अतिक्रमण कर दिया हो वह अवधूत कहलाता है। ऐसा व्यक्ति माया के बन्धन से पहले ही पार हो चुका होता है और नितान्त विलग तथा स्वतंत्र रहने वाला होता है।

तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिविरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनिचरापसदैः

परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव

वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तैस्तद्विगणयत्रेवासत्संस्थान

एतस्मिन्देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण

स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; पुर—नगरों; ग्राम—गाँवों; आकर—खानों; खेट—खेतों; वाट—बगीचों; खर्वट—घाटी में स्थित गाँवों (पहाड़ी गाँवों); शिविर—सेना की छावनियों; व्रज—गोशालाओं; घोष—अहीरों की बस्तियों; सार्थ—यात्रियों के विश्रामालयों; गिरि—पर्वतों; वन—जंगलों; आश्रम—मुनियों के वासस्थानों; आदिषु—इत्यादि में; अनुपथम्—मार्ग से जाते हुए; अवनिचर-अपसदैः—अवांछित तत्त्वों द्वारा, दुष्ट पुरुषों के द्वारा; परिभूयमानः—घिरकर; मक्षिकाभिः—मक्खियों से; इव—सदृश्य; वन-गजः—जंगली हाथी; तर्जन—चिंघाड़ से; ताडन—प्रताड़ित होकर; अवमेहन—शरीर पर पेशाब करते हुए; ष्ठीवन—शरीर पर थूकते हुए; ग्राव-शकृत्—पत्थर और मल; रजः—धूलि; प्रक्षेप—फेंकते हुए; पूति-वात—शरीर पर अधोवायु छोड़ते हुए; दुरुक्तैः—(तथा) गालियों से; तत्—वह; अविगणयन्—बिना परवाह किये; एव—इस प्रकार; असत्-संस्थाने—भद्र पुरुष के अयोग्य स्थान; एतस्मिन्—इसमें; देह-उपलक्षणे—देह के रूप में; सत्-अपदेशे—सत्य कहलाने वाला; उभय-अनुभव-स्वरूपेण—देह तथा आत्मा की वास्तविक स्थिति समझने से; स्व-महिमा—अपनी महिमा में; अवस्थानेन—स्थिर हो करके; असमारोपित-अहम्-मम-अभिमानत्वात्—‘मैं तथा मेरी’ ममता को अस्वीकार करने से; अविखण्डित-मनाः—अविचलित मन से; पृथिवीम्—सारे संसार में; एक-चरः—अकेले; परिबभ्राम्—घूमता था।

ऋषभदेव नगरों, गाँवों, खानों, किसानों की बस्तियों, घाटियों, बागों, सैनिक छावनियों, गोशालाओं, अहीरों की बस्तियों, यात्रियों के विश्रामालयों, पर्वतों, जंगलों तथा आश्रमों के बीच घूमने लगे। जहाँ भी वे जाते, उन्हें दुष्ट जन उसी प्रकार घेर लेते जिस प्रकार जंगली हाथी को मक्खियाँ घेर लेती हैं। उन्हें डराया धमकाया और मारा जाता, उन पर पेशाब किया जाता और थूका जाता। यहाँ तक कि कभी-कभी उन पर पत्थर, विष्ठा और धूल फेंकी जाती और

कभी-कभी तो लोग उनके समक्ष अपानवायु निकालते। इस प्रकार लोग उन्हें भला-बुरा कहते और अत्यधिक यातना देते, किन्तु उन्होंने कभी भी इसकी परवाह नहीं की, क्योंकि वे यह समझते थे कि इस शरीर का यही अन्त है। वे आत्म-पद पर स्थित थे और सिद्ध होने से ऐसे भौतिक तिरस्कारों की तनिक भी परवाह नहीं करते थे। अर्थात् उन्हें इसका पूर्ण ज्ञान हो चुका था कि पदार्थ (देह) तथा आत्मा पृथक्-पृथक् हैं। उनमें देहात्म-बुद्धि न थी। अतः वे किसी पर क्रुद्ध हुए बिना सारे संसार में अकेले ही घूमने लगे।

तात्पर्य : नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं— देह स्मृति नाहि यार, संसार-बन्धन काहाँ तार। जब मनुष्य को यह पूरी तरह अनुभव होने लगता है कि यह देह तथा संसार क्षणिक हैं, तो उसे शारीरिक दुख तथा सुख की परवाह नहीं रहती। जैसाकि श्रीकृष्ण भगवद्गीता (२.१४) में उपदेश देते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

“हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाले सुख-दुख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के मौसम के आने-जाने के समान ही अनित्य और क्षणभंगुर है। इसलिए हे भारत! बिना विचलित हुए उन्हें सहने का अभ्यास करो।”

जहाँ तक ऋषभदेव की बात है, यह पहले ही बताया जा चुका है कि इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्। उनका देह भूतमय नहीं था इसलिए समाज के दुश्चरित्रों ने उन्हें जो यातनाएँ दीं उन्हें उन्होंने सकृत् किया। इसलिए अपने ऊपर मल फेंके जाने तथा प्रताड़ना को वे सह सके। उनका शरीर दिव्य था, अतः उन्हें पीड़ा नहीं होती थी। वे सदैव दिव्य आनन्द में मग्न रहते थे। भगवद्गीता (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

“हे अर्जुन! परमेश्वर प्राणीमात्र के हृदय में स्थित हैं। वही देहरूपी यंत्र में आरूढ़ रह कर सब जीवों को अपनी माया शक्ति से घुमाता रहता है।”

चूँकि ईश्वर सबके हृदय में स्थित है, अतः वह शूकर तथा कूकर के हृदय में भी स्थित है। यदि

शूकर तथा कूकर गन्दे स्थान में रहते हैं, तो यह नहीं समझना चाहिए कि ईश्वर भी अपने परमात्मा रूप में गन्दे स्थान में रहते हैं। यद्यपि संसार के दुर्जन ऋषभदेव को यातना दे रहे थे, किन्तु इनका उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। अतः यहाँ यह कहा गया है— *स्व महिमा-अवस्थानेन*—वे अपनी महिमा में स्थित थे। यहाँ जिस प्रकार उन्हें यातना दिये जाने का वर्णन है, उससे वे कभी दुखी नहीं हुए।

अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुलबाह्वंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायतनयनरुचिरः सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवाद्दृश्यत ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अति-सु-कुमार—अत्यन्त कोमल; कर—हाथ; चरण—पाँव; उरः-स्थल—वक्षस्थल, छाती; विपुल—दीर्घ, लम्बे; बाहु—भुजाएँ; अंस—कंधे; गल—गला; वदन—मुख; आदि—इत्यादि; अवयव—अंग; विन्यासः—सुगठित; प्रकृति—स्वभाव से; सुन्दर—आकर्षक; स्व-भाव—स्वाभाविक; हास—मन्द मुस्कान; सु-मुखः—सुन्दर मुख; नव-नलिन-दलायमान—नव विकसित कमल पुष्प की पंखड़ियों के समान दिखने वाला; शिशिर—सब दुखों को हरने वाले; तार—नेत्र गोलक; अरुण—लाली लिए हुए; आयत—फैले हुए, विशाल; नयन—नेत्रों से; रुचिरः—मोहक; सदृश—समान; सुभग—सुन्दर; कपोल—गाल; कर्ण—कान; कण्ठ—गर्दन; नासः—नासिका, नाक; विगूढ-स्मित—अस्फुट हास; वदन—मुख से; महा-उत्सवेन—उत्सव सदृश लगने वाला; पुर-वनितानाम्—पुर-नारियों के; मनसि—मन में; कुसुम-शरासनम्—कामदेव; उपदधानः—जागरित करते हुए; पराक्—चारों ओर; अवलम्बमान—खुली, फैली; कुटिल—घुँघराले; जटिल—जटायुक्त; कपिश—भूरे; केश—बालों की; भूरि-भारः—अधिकता; अवधूत—उपेक्षित; मलिन—गंदा, धूल-धूसरित; निज-शरीरेण—अपने शरीर से; ग्रह-गृहीतः—भूतग्रस्त; इव—मानो; अद्दृश्यत—दिखाई पड़ता था।

भगवान् ऋषभदेव के हाथ, पाँव तथा वक्षस्थल अत्यन्त दीर्घ थे। उनके कंधे, मुख तथा अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुगठित तथा सुकोमल थे। उनका मुख उनकी सहज मुस्कान से मंडित था और उनके खुले हुए लाल-लाल नेत्र ऐसे प्रतीत होते थे मानो प्रातःकालीन ओस कणों से युक्त नव विकसितकमल पुष्प की पंखड़ियाँ हों। इस कारण वे और भी अधिक सुन्दर दिखते थे उनकी पुतलियाँ इतनी मनोहर थीं कि देखने वालों का सारा सन्ताप हर लेती थीं। उनके कपोल, कान, गर्दन, नाक तथा अन्य अंग अतीव सुन्दर थे। उनके मन्द हास से उनका मुख इतना आकर्षक प्रतीत होता था कि विवाहित नारियों का भी मन खिंच जाता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो कामदेव ने अपने बाणों से उन्हें बींध दिया हो। उनके सिर के चारों ओर घुँघराली भूरी जटाएँ थीं। उनके सिर के बाल छितरे थे क्योंकि उनका शरीर गंदा और उपेक्षित था। ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्हें किसी भूत ने सता रखा हो।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् ऋषभदेव का शरीर उपेक्षित था, किन्तु उनके दिव्य अंग-प्रत्यंग इतने आकर्षक थे कि विवाहित स्त्रियाँ तक आकृष्ट हो जाती थीं। उनकी सुन्दरता तथा मलिनता के मिल जाने से उनका सुन्दर शरीर ऐसा लगता था मानो किसी भूत ने उनका पीछा कर रखा हो।

यर्हि वाव स भगवान्लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति
व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हृदति स्म चेष्टमान उच्चरित
आदिग्धोद्देशः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यर्हि वाव—जब; सः—उस; भगवान्—भगवान् ने; लोकम्—जनता को; इमम्—इस; योगस्य—योग का; अद्धा—प्रत्यक्ष;
प्रतीपम्—विरुद्ध; इव—सदृश्य; आचक्षाणः—देखते हुए; तत्—उसकी; प्रतिक्रिया—विरोध में; कर्म—क्रिया; बीभत्सितम्—
बीभत्स, घृणित; इति—इस प्रकार; व्रतम्—आचरण, वृत्ति; आजगरम्—अजगर का (एक स्थान पर पड़े रहने का);
आस्थितः—स्वीकार करके; शयानः—लेटे रहना; एव—निस्सन्देह; अश्नाति—भोजन करता है; पिबति—पीता है; खादति—
खाता (चबाता) है; अवमेहति—पेशाब करता है; हृदति—मल-त्याग करता है; स्म—इस प्रकार; चेष्टमानः—लुढ़कते हुए;
उच्चरिते—मल तथा मूत्र में; आदिग्ध-उद्देशः—इस प्रकार उसका शरीर लथपथ हो गया।

जब भगवान् ऋषभदेव ने देखा कि जनता उनकी योग-साधना में विघ्न रूप है, तो उन्होंने इसकी प्रतिक्रिया में अजगर का सा आचरण (वृत्ति) ग्रहण कर लिया। वे एक ही स्थान पर लेटे रहने लगे। वे लेटे ही लेटे खाते, पीते, पेशाब तथा मल त्याग करते और उसी पर लोट-पोट करते। यहाँ तक कि वे अपने सारे शरीर को अपने ही मल-मूत्र से सान लेते जिससे उनके विरोधी उन्हें विचलित न करें।

तात्पर्य : अपने प्रारब्ध के अनुसार एक ही स्थान पर रहकर भी मनुष्य सुख तथा दुख उठाता है। यह शास्त्रों का आदेश है। जब वह सिद्ध हो जाता है, तो वह एक ही स्थान पर रह सकता है और परम नियन्ता उसकी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करता है। जब तक वह उपदेशक न हो, उसे संसार भर में घूमने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक स्थान पर रहते हुए मनुष्य काल तथा स्थिति के अनुसार भक्ति कर सकता है। जब ऋषभदेव ने देखा कि संसार भर में घूमते रहने से उनको बाधा पहुँचती है, तो उन्होंने अजगर तुल्य एक ही स्थान पर लेटे रहने का निश्चय किया। इस तरह वे लेटे-लेटे खाते-पीते, मल-मूत्र त्यागते और अपने शरीर को उसी में साने रहते जिससे लोग उन्हें सताएँ नहीं।

तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात्सुरभिं चकार ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी; ह—निस्संदेह; यः—जो; पुरीष—मल की; सुरभि—सुगन्धि से; सौगन्ध्य—सुरभित होकर; वायुः—वायु; तम्—उस; देशम्—देश को; दश योजनम्—दस योजन तक (एक योजन आठ मील के तुल्य); समन्तात्—चारों ओर; सुरभिम्—सुगन्धित; चकार—कर दिया।

इस अवस्था में रहने के कारण जनता ने ऋषभदेव को परेशान नहीं किया। परंतु उनके मल-मूत्र से दुर्गन्धि नहीं निकली। उल्टे, उनका मल-मूत्र इतना सुगन्धित था कि अस्सी मील तक का प्रदेश इसकी सुगन्धि से भर गया।

तात्पर्य : इस वर्णन से हम यह कल्पना कर सकते हैं कि ऋषभदेव को दिव्य आनन्द प्राप्त था। उनका मल-मूल सामान्य प्राणी के मलमूत्र से सर्वथा भिन्न था, वह सुगन्धित था। इस भौतिक लोक में भी गाय के गोबर को पवित्र और कृमिनाशक माना जाता है। एक स्थान पर गोबर का कितना बड़ा ढेर क्यों न लगा दिया जाये उससे दुर्गन्धि नहीं आएगी। हम इसे पक्का मान लें कि वैकुण्ठ-जगत में मल-मूत्र भी सुगन्धित होते हैं। वस्तुतः ऋषभदेव के मल-मूत्र से सारा वायुमण्डल अत्यन्त सुगन्धित हो गया था।

एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गो—गायों; मृग—हिरन; काक—कौवे की; चर्यया—चर्या (क्रिया) द्वारा; व्रजन्—घूमते हुए; तिष्ठन्—खड़े-खड़े; आसीनः—बैठे हुए; शयानः—लेटे हुए; काक-मृग-गो-चरितः—कौवों, हिरणों तथा गायों की भाँति आचरण करते हुए; पिबति—पीता है; खादति—खाता है; अवमेहति—पेशाब करता है; स्म—उसने ऐसा किया।

इस प्रकार ऋषभदेव ने गायों, हिरणों तथा कौवों की वृत्ति का अनुगमन किया। कभी वे इधर-इधर चलते तो कभी एक स्थान पर बैठे रहते। कभी वे लेट जाते। इस प्रकार वे गाय, हिरण तथा कौवे के समान ही आचरण करते। उन्हीं के समान वे खाते-पीते तथा मल-मूत्र का त्याग करते। इस प्रकार वे लोगों को धोखे में रखे रहे।

तात्पर्य : भगवान् होने के कारण ऋषभदेव को दिव्य देह प्राप्त थी। चूँकि सामान्य लोग उनकी वृत्ति तथा योगसाधना को नहीं समझ पाये इसलिए वे उनको तंग करने लगे। अतः उन्हें ही धोखा देने के लिए उन्होंने गाय, हिरण तथा कौवे का सा आचरण प्रारम्भ किया।

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान्कैवल्यपतिरृषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि

वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यहच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत् ॥
३५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; नाना—अनेक; योग—योग की; चर्या—क्रियाएँ; आचरणः—अभ्यास करते हुए; भगवान्—भगवान्;
कैवल्य-पतिः—कैवल्य के स्वामी अथवा सायुज्य मुक्ति के दाता; ऋषभः—ऋषभदेव; अविरत—निरन्तर; परम—परम; महा—
अत्यधिक; आनन्द-अनुभवः—आनन्द के अनुभव द्वारा; आत्मनि—परम-आत्मा में; सर्वेषाम्—सब; भूतानाम्—जीवात्माओं
के; आत्म-भूते—हृदय में स्थित होकर; भगवति—भगवान्; वासुदेवे—वासुदेव के पुत्र, श्रीकृष्ण में; आत्मनः—स्वयं का;
अव्यवधान—विधान में अन्तर न आने से; अनन्त—असीम; रोदर—यथा रोदन, हास तथा सिहरन; भावेन—प्रेम के लक्षणों से;
सिद्ध—सिद्ध, पूर्ण; समस्त—सब; अर्थ—वांछित धन; परिपूर्णः—पूरित; योग-ऐश्वर्याणि—योग-शक्तियाँ; वैहायस—आकाश
में उड़ना; मनः-जव—मन की गति से दौड़ना; अन्तर्धान—अदृश्य होने की शक्ति; परकाय-प्रवेश—दूसरे के शरीर में प्रवेश
करने की क्षमता; दूर-ग्रहण—दूर की वस्तुओं को देखने की शक्ति, दूर-दृष्टि; आदीनि—इत्यादि; यहच्छया—स्वतः, बिना
किसी बाधा के; उपगतानि—प्राप्त किया; न—नहीं; अञ्जसा—प्रत्यक्षतः; नृप—हे राजा परीक्षित; हृदयेन—हृदय से;
अभ्यनन्दत्—स्वीकार कर लिया।

हे राजा परीक्षित, श्रीकृष्ण के अंश भगवान् ऋषभदेव ने समस्त योगियों को योगसाधना प्रदर्शित करने के उद्देश्य से अनेक विचित्र कार्य किये। वे मुक्ति के स्वामी थे और दिव्य आनन्द में सतत लीन रहते थे। जो हजारों गुणा बढ़ गया था। वासुदेव के पुत्ररूप वासुदेव कृष्ण उनके आदि कारण हैं। उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं; फलतः भगवान् ऋषभदेव रोने, हँसने तथा थरथराने के प्रिय लक्षण प्रकट करने लगे। वे दिव्य प्रेम में सदैव निमग्न रहते। फलस्वरूप सभी योग शक्तियाँ अपने आप उनके पास पहुँचती—यथा मन की गति से आकाश-गमन, प्रकट और अदृश्य होना, अन्यो के शरीर में प्रवेश कर जाना तथा दूरस्थ वस्तुओं को देख पाना। यद्यपि वे इन सबको कर सकने में समर्थ थे, किन्तु उन्होंने इन शक्तियों का प्रयोग नहीं किया।

तात्पर्य : चैतन्यचरितामृत (मध्य १९.१४९) में कहा गया है—

कृष्ण भक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त' ॥

शान्त शब्द का अर्थ है पूर्णतः शान्ति-युक्त। जब तक मनुष्य की समस्त कामनाएँ पूर्ण नहीं हो जाती, वह शान्त नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य अपनी आकांक्षाओं तथा कामनाओं की पूर्ति चाहता है चाहे वे भौतिक हों या आध्यात्मिक। जगत में रहने वाले लोग अशान्त हैं क्योंकि उनकी आकांक्षाएँ अगणित हैं। किन्तु शुद्ध भक्त निष्काम होता है। अन्याभिलाषिता-शून्य—शुद्ध भक्त सभी प्रकार की भौतिक कामनाओं से मुक्त होता है। इसके विपरीत सारे कर्मी कामनाओं से युक्त होते हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति का सुख उठाना चाहते हैं। वे न तो इस जीवन में शान्त हैं, न ही अगले जीवन में होंगे। न

ही भूत काल में थे, न वर्तमान और भविष्य में। इसी प्रकार ज्ञानी लोग सदैव मुक्ति-कामी होते हैं और परमात्मा के साथ तादात्म्य चाहते हैं। योगीजन अनेक सिद्धियों के पीछे रहते हैं जैसे अनिमा, लगिमा प्राप्ति इत्यादि। किन्तु भक्त को इन वस्तुओं में कोई रुचि नहीं होती, क्योंकि वह श्रीकृष्ण के अनुग्रह पर पूरी तरह आश्रित रहता है। कृष्ण योगेश्वर हैं, समस्त योग (सिद्धियों) के स्वामी हैं। वे आत्माराम अर्थात् स्वयं-संतुष्ट हैं। इस श्लोक में योगसिद्धियों का वर्णन हुआ है। इनसे मनुष्य बिना किसी यंत्र के अन्तरिक्ष में उड़ सकता है और मन की गति से यात्रा कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब कभी योगी को इस ब्रह्माण्ड के अन्दर या बाहर कहीं जाने की इच्छा होती है, तो वह तुरन्त वहाँ पहुँच जाता है। मन की गति को निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि एक क्षण में मन लाखों मील चला जाता है। कभी-कभी सिद्ध योगी परकाय-प्रवेश करके अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं। वृद्ध होने पर कभी-कभी सिद्ध योगी तरुण तथा बलवान शरीर प्राप्त कर सकता है। अपने वृद्ध शरीर को त्याग कर वह तरुण शरीर में प्रवेश कर सकता है और इच्छानुसार कार्य कर सकता है। भगवान् वासुदेव के अंश होने के कारण ऋषभदेव में ये समस्त योगशक्तियाँ थीं, किन्तु वे श्रीकृष्ण की भक्ति से ही सन्तुष्ट थे जिसका प्रत्यक्षीकरण उनके हँसने, रोने या कंपन से होता था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के अन्तर्गत “भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश” नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।